सोम-पुस्तकमाला, सं० २

वैदिक पशुयज्ञ-मीमांसा

लेखक—

प्रोफैसर विश्वनाथ, विद्यालङ्कार

सोम-पुस्तकमाला, संख्या २.

वैदिक पशुयज्ञ-मीमांसा

इसमें मुख्य २ पशुयज्ञों के हिंसामय स्वरूपों का,
वेदादि के प्रमाणों से प्रत्याख्यान कर, उनके
स्वरूपों के वास्तविक रहस्यो का
प्रकाशन है

लेखक
विश्वनाथ विद्यालंकार
पूर्व प्रोफेसर, विज्ञान, दर्शनशास्त्र तथा वैदिक साहित्य,
गुरुकुल कांगड़ी

प्रकाशक
सोम पुस्तकालय, कैसरगंज
अजमेर

प्रथमवार | आश्विन संवत् १९८२ सितम्बर सन् १९२५ | मूल्य ॥)

शुद्धिपत्र

पृ०	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
१०७	२१,२२	प्रजापति के पुत्र महर्षि एकत, द्वित और त्रित सदस्य हुए। धनुषाख्य,	प्रजापति के पुत्र सदस्य हुए। महर्षि एकत, द्वित और त्रित, धनुष,
१०८	१	कपिल,	कपिल जो कि शालि-होत्र का पिता था,
"	"	आद्य, कठ,	आद्य कठ,
"	"	तैत्तिरि, वैशम्पायन, पूर्वज,	तैत्तिरि जो कि वैश-म्पायन का पूर्वज था,

"वैदिक पशुयज्ञ-मीमांसा" नामक पुस्तक पाठकों की सेवा में उपस्थित है। गुरुकुल विश्वविद्यालय, कांगड़ी के, महाविद्यालय विभाग में, वैदिक साहित्य के अध्यापन काल के पशुयज्ञविषयक कतिपय निर्देश, अस्तव्यस्त दशा में, मेरे पास लिखे रक्खे थे। उन्हीं के स्वरूप में कुछ परिवर्त्तन तथा परिवर्धन कर वर्तमान पुस्तक लिखी गई है।

यह पुस्तक, लगभग, तीन मासों में ही लिखी तथा प्रकाशित हुई है। इस पुस्तक के शीघ्र लेखन और प्रकाशन के दो कारण हुए हैं। एक तो यह कि भारत के दक्षिण प्रदेश में, आर्यसमाज तथा पौराणिक पण्डितों में, पशुयज्ञ विषय पर, शीघ्र ही, एक उद्भट शास्त्रार्थ के होने का नोटिस, लाहौर के उर्दू समाचारपत्र "प्रकाश" में पढ़ा। दूसरा कारण यह कि अजमेर से प्रकाशित होने वाले कतिपय जैन समाचारपत्रों में, लगातार, कई लेख प्रकाशित हुए जिन में लिखा था कि वैदिकधर्म में पशुयज्ञों में हिंसा का विधान है, और लेखक महोदय अपने लिखित लेखों का उत्तर भी शीघ्र ही चाहते थे।

चूँकि, वेदों के सतत स्वाध्याय से मेरा यही निश्चय हुआ है कि वेदों में हिंसामय पशुयज्ञों का विधान नहीं। अतः, इन अवस्थाओं में, पशुयज्ञ विषय पर अपने कतिपय विचारों को, शीघ्र ही, जनता के सम्मुख उपस्थित करना मैंने लाभकारी समझा। मुझे पूर्ण आशा है कि अनुग्राहक पाठक, सहृदय होकर, इस पुस्तक के आवश्यक निर्देशों पर विचार करेंगे।

इस पुस्तक में, प्रसिद्ध पञ्चमेधों पर ही विचार किया गया है, और वेद, ब्राह्मण, प्रणववाद, महाभारत, श्रीमद्भागवत आदि प्रसिद्ध २ ग्रन्थों में आए, हिंसामय पशुयज्ञों के विरोधी प्रमाणों का संग्रह किया गया है। साथ ही रहस्यवाद में, पशुयज्ञों के वास्तविक स्वरूपों पर भी प्रकाश डाला गया है।

हिंसा के विषय में सन्देहोत्पादक मन्त्रों तथा ब्राह्मणभागों के यथार्थ अर्थों का उद्घाटन इस पुस्तक में नहीं किया। इस पुस्तक में, कतिपय उन्हीं प्रमाणों तथा युक्तियों का संग्रह किया गया है, जिन से यह प्रमाणित हो सके कि हिंसामय पशुयज्ञ वैदिक नहीं हैं।

मेरी उत्कट अभिलाषा है कि इस पुस्तक का द्वितीय भाग भी, शीघ्र ही, पाठकों के सम्मुख रक्खूं, जिस में कि विवादास्पद मन्त्रों के वास्तविक अर्थों का भी प्रकाशन हो। परमात्मा की

कृपा बनी रही और पाठक महोदयों ने, इस विषय के पठन में, क्रियात्मक रूप में यदि अधिक रुचि दर्शाई, तो इस द्वितीय भाग को भी शीघ्र ही प्रकाशित कर दिया जायगा।

अन्त में मैं उन सज्जनों का अत्यन्त आभारी हूंगा जो, पत्रद्वारा, इस पुस्तक की वास्तविक त्रुटियां मुझे लिखेंगे। इस प्रकार आई हुई प्रत्येक शङ्का पर पूर्ण विचार किया जायगा, और इस पुस्तक के द्वितीय संस्करण में उन शङ्काओं के साथ पूर्ण न्याय किया जायगा।

सोम-पुस्तकालय
कैसरगंज
अजमेर

विश्वनाथ (लेखक)

विषय सूचीपत्र

वैदिक पशुयज्ञ-मीमांसा

प्रथम प्रकरण

यज्ञ के पर्यायवाचक शब्द

वैदिक नामपद सार्थक हैं, निरर्थक नहीं। वेदों में भिन्न २ वस्तुओं के जो नाम मिलते हैं वे अपने धात्वर्थों का त्याग नहीं करते। उदाहरण के लिये पाठक पङ्कज शब्द पर विचार करें। पङ्कज शब्द का अर्थ है—कमल। यह पङ्कज शब्द दो हिस्सों से बना है। एक "पङ्क" और दूसरा "ज"। पङ्क का अर्थ है "कीचड़" और "ज" का अर्थ है "पैदा हुआ"। अतः पङ्कज का अर्थ है—कीचड़ से पैदा हुआ पदार्थ। कमल यदि कीचड़ से पैदा न हुआ हो तो उसे पङ्कज शब्द से कहना वैदिक-शब्द-शास्त्र की दृष्टि में सर्वथा अनुचित होगा। वैदिक दृष्टि में कमल को तभी पङ्कज शब्द से कहा जा सकता है जब कि कमल में "पङ्क से पैदा होना" रूपी धर्म विद्यमान हो। लोक में निर्धन को धनीराम, अन्धे को नयनसुख तथा नीचदास को भी जगन्नाथ

के नाम से पुकारा जाता है। परन्तु वैदिक दृष्टि में वस्तुओं के नामकरण का यह ढङ्ग किसी प्रकार भी स्वीकृत नहीं। वैदिक दृष्टि में धनी का नाम धनीराम, आंखों वाले का नाम नयनसुख तथा मुख्यरूप से परमात्मा का और गौणरूप से राजा का नाम जगन्नाथ सम्भव है।

यज्ञ के नाम

उपरिलिखित सिद्धान्त के अनुसार अब हमें देखना चाहिये कि वेदों में यज्ञ के जो २ पर्यायवाची नाम आते हैं, उनके धात्वर्थों द्वारा "पशुयज्ञ" विषय पर कोई प्रकाश पड़ता है या नहीं। यज्ञ के पर्यायवाची नाम निम्नलिखित हैं, जोकि निघण्टु में पठित हैं। यथाः—

यज्ञः, वेनः, अध्वरः, मेधः, विदथः, नार्यः, सवनम्, होत्रा, इष्टिः, देवताता, मखः, विष्णुः, इन्दुः, प्रजापतिः, घर्मः ॥ निघं० अ० ३। खं० १७॥

इनमें से "अध्वर, देवताता और प्रजापति" इन नामों पर विचार करना अत्यावश्यक है।

१ अध्वर

अध्वर शब्द की निरुक्ति (derivation) में निरुक्तकार यास्कमुनि लिखते हैं कि—

अध्वर इति यज्ञनाम। ध्वरतिर्हिंसाकर्मा, तत्प्रतिषेधः॥ निरु० अ० १। खं० ८॥

निरुक्तकार के इन शब्दों की व्याख्या श्री देवराज यज्वा

अपने निघण्टु भाष्य में निम्नलिखित वाक्य द्वारा करते हैं। यथाः—

ध्वरतेर्बधकर्मणः, "पुंसि संज्ञायां घः" (अष्टाध्या० ३। ४। ११८), नञ्पूर्वः। ध्वरा हिंसा, तद्भावो यत्र॥ निघं० १। १७॥

इस व्याख्या का अभिप्राय यह है कि अध्वर शब्द दो हिस्सों से बना है। एक "अ" और दूसरा "ध्वर"। "अ" का अर्थ है—निषेध, और "ध्वर" का अर्थ है—हिंसा करना या बध करना। अतः अध्वर का अर्थ हुआ कि जिसमें हिंसा या बध न किया जाय। इस प्रकार यज्ञ का नाम "अध्वर" होना ही इस सिद्धान्त की पुष्टि कर रहा है कि यज्ञ में हिंसा कदापि न होनी चाहिये। जिसमें हिंसा है वह यज्ञ ही नहीं। इसलिये अध्वर शब्द, अपने निर्वचन द्वारा, स्पष्टरूप से निर्देश कर रहा है कि यज्ञ में पशुबध सर्वथा निषिद्ध है। यदि यज्ञ में पशु का बध करना वेदों को अभीष्ट होता तो वैदिक साहित्य में यज्ञ का नाम अध्वर कभी भी न होता। यज्ञ में पशुवध की विधि की अवस्था में तो यज्ञ का नाम "ध्वर" अथवा "सध्वर" होना चाहिये था, न कि "अध्वर"।

देवराज यज्वा का बुद्धि कौशल

अध्वर शब्द के निर्वचन में यास्कमुनि के शब्द नितान्त सरल और स्पष्ट हैं। उनमें हेरफेर अथवा वाद विवाद की कोई गुञ्जाइश नहीं। यास्कमुनि के निर्वचन के अनुसार अ-

ध्वर शब्द स्पष्ट आज्ञा देरहा है कि यज्ञ में कदापि पशुबध न करो। तो भी देवराज यज्वा का, यज्ञ में पशुबध-विषयक परम्परागत पौराणिक निरूढ़ भाव, इस स्थल में, उसे एक नई कल्पना के करने में बलपूर्वक प्रेरणा करता है। वह कल्पना यह कि यद्यपि अध्वर शब्द स्पष्ट दर्शा रहा है कि यज्ञ में हिंसा न करनी चाहिये, तो भी इससे यज्ञ में पशुबध का निषेध नहीं होता। क्योंकि यज्ञ में पशुओं के बध करने से पशु सीधे स्वर्ग में जाते हैं। अतः यज्ञ में पशुओं का बध हिंसारूप नहीं, अपितु यज्ञ में उनका बध उन्हें स्वर्ग पहुंचाने वाला है। अतः याज्ञिक लोग, यज्ञ में पशुओं के बध द्वारा, पशुओं पर परम उपकार करते हैं, न कि उनकी हिंसा। चूंकि वे लोग यज्ञ में पशुबध द्वारा, पशुओं को नीच गति से उठाकर उच्चगति पर पहुंचाते हैं। इसी सम्बन्ध में वह एक श्लोक का भी प्रमाण देता है, जो कि निम्नलिखित है। यथाः—

ओषध्यः पशवो वृक्षास्तिर्यञ्चः पक्षिणस्तथा ।
यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युच्छ्रितां गतिम् ॥

इस का अभिप्राय यह है कि ओषधियां, पशु, वृक्ष, तिर्यक् प्राणी तथा पक्षी यदि यज्ञ के लिये मारे जायं तो ये उच्चगति को प्राप्त होते हैं।

आलोचना

न जाने देवराज यज्वा के भारी पंडित होते हुए भी यास्कमुनि के असन्दिग्ध

तथा अतिस्पष्ट शब्द, उसके परम्परागत पशुबध-विषयक निरूढ़ भाव का मूलोच्छेद क्यों नहीं कर सके ? । सत्य है कि परम्परा से प्राप्त दृढ़ संस्कार अति प्रबल होते हैं । युक्ति और बुद्धि का तेज कुठार भी दृढ़ संस्कार के चट्टान पर आकर कुण्ठित हो जाता है । देवराज यज्वा की इस नई कल्पना की आलोचना में अपने शब्दों में न करता हुआ, यहां केवल चार्वाकों के एक उस प्रसिद्ध श्लोक को पाठकों के सम्मुख रख देना आवश्यक समझता हूं, जिसमें इस कल्पना का उत्तर बहुत संक्षिप्त परन्तु सारगर्भित शब्दों में दिया है । वह श्लोक निम्नलिखित है । यथाः—

पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति ।
स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हिंस्यते ॥

इसका अभिप्राय यह है कि यदि यज्ञ में मारा हुआ पशु स्वर्ग में जा सकता है, तो यजमान (यज्ञ करने वाला), उस यज्ञ में, अपने पिता का ही बध क्यों नहीं करता, ताकि वह स्वर्ग में चला जाय

इस प्रकार देवराज यज्वा की, यज्ञ में पशुबध-विषयक कल्पना, सर्वथा युक्तिशून्य प्रतीत होती है ।

२ देवताता

यज्ञ का दूसरा नाम "देवताता" भी है । देवताता शब्द दो हिस्सों से बना

प्रतीत होता है—देव और ताता। देव का अर्थ है देवता। ताता शब्द "तन्" धातु से बना हुआ प्रतीत होता है। तन् धातु का अर्थ है—विस्तार। यथाः—"तनु विस्तारे"। अतः देवताता का अर्थ है—"देवों के लिये विस्तृत किया गया"। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि यज्ञ केवल देवताओं के ही उद्देश्य से किया जाता है, न कि असुर और राक्षसों के उद्देश्य से। अर्थात् यज्ञ में जो घी आदि सामग्री होती है, उसकी आहुति देवताओं के नाम से दीजाती है, न कि असुरों और राक्षसों के नाम से। अग्नये स्वाहा, सोमाय स्वाहा, प्रजापतये स्वाहा—इत्यादि वचनों में अग्नि, सोम तथा प्रजापति आदि देवताओं के नामों से ही अग्नि में आहुति दी जाती है। वेदों में असुराय स्वाहा, राक्षसाय स्वाहा—ऐसे वाक्य नहीं हैं। इससे प्रतीत होता है कि यज्ञीय आहुतियों के अधिकारी केवल देव ही हैं, न कि असुर तथा राक्षस।

अब देखना चाहिये कि वेदों में दवताओं के भोजन के सम्बन्ध में क्या लिखा है। यदि तो वेदों में लिखा हो कि देव मांस भी खाते हैं, तब तो यह भी सिद्ध हो सकेगा कि यज्ञ में मांस की आहुति भी वेदोक्त ही है। परन्तु वेद में कहीं भी यह नहीं लिखा कि देव मांस-भक्षक भी हैं। वेद में देवों के भोजन के सम्बन्ध में लिखा है कि "देवा आज्यपाः"। इसका

(१) यजुर्वेद २१। ४०, ४८॥ २८। ११॥ २१। ४६, ४७॥

अभिप्राय यह है कि देव घी के पीने वाले हैं। इसीलिये वैदिक सिद्धान्त में घृताहुति पर ही अधिक बल दिया गया है[1]। यदि यज्ञ में मांसाहुति वेद को अभीष्ट होती, तो चूंकि यज्ञ, देवताओं के लिये विस्तृत किया जाता है, तब देवों के भोजन में मांस का गिनाना भी वेद के लिये आवश्यक होता। चूंकि वेद में देवताओं के भोजन में मांस कहीं भी गिनाया नहीं गया, इससे प्रतीत होता है कि वेद को यज्ञ में मांसाहुति अभीष्ट नहीं। वेदों में मांस और रुधिर आदि अन्न, राक्षसों के भोज्य पदार्थों में तो अवश्य गिनाये हैं। वेदों में रक्तपाः, मांसादाः, पिशाचाः, क्रव्यादाः—आदि नाम राक्षसों के लिये पठित हैं। रक्तपाः=रक्त अर्थात् खून के पीने वाले। मांसादाः=मांस के खाने वाले। पिशाचाः=पिश अर्थात् शरीर के अवयवों के खाने वाले। क्रव्यादाः=हिंसा से प्राप्त मांस के खाने वाले[2]। यतः देवताता पद यह सूचित कर रहा है कि यज्ञ देवताओं के लिये विस्तृत होता है न कि राक्षसों के लिये, अतः यज्ञ में देवताओं के ही भोजन की आहुति होनी चाहिये नाकि राक्षसों के भोजन की। अतः देवताता पद से भी यही सूचित होता है कि यज्ञ

---

(१) शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि "चरु वै देवानामन्नम्"। अर्थात् चरु देवताओं का अन्न है। चरु का अर्थ है चावल। इसलिये यज्ञ में चावल की आहुति भी होनी चाहिये।

(२) क्रव्य शब्द क्रुवि धातु से बना है, जिसका अर्थ है—हिंसा। यथा क्रुवि हिंसायाम्।

में पशुवध न होना चाहिये [1]।

३ प्रजापति यज्ञ का तीसरा नाम है—प्रजापति। प्रजा का अर्थ है—उत्पन्न प्राणी। और पति का अर्थ है—रक्षक। अतः प्रजापति का अर्थ है—प्राणियों का रक्षक। संस्कृत में राजा का नाम राष्ट्रपति भी है। वह राजा जो कि राष्ट्र पर अत्याचार करता है राष्ट्रपति के नाम से पुकारे जाने के योग्य नहीं। वही राजा राष्ट्रपति के नाम से पुकारा जाना चाहिये जो कि राष्ट्र की रक्षा सम्यक् प्रकार से करता हो। इसी प्रकार यज्ञ का नाम प्रजापति है। यज्ञ यदि स्वयं ही पशुप्रजा का भक्षक हो तो यज्ञ का प्रजापति नाम ही निरर्थक हो जाय। अतः यज्ञ का नाम प्रजापति होना ही सिद्ध कर रहा है कि यज्ञ में पशुवध न करना चाहिये [2]।

(१) संस्कृत साहित्य में देवों का एक और विशेष नाम है "अमृतान्धसः"। अमृतान्धसः=अ+मृत+अन्धसः। अ=न; मृत=मरा हुआ; अन्धस्=अन्न। अतः अमृतान्धसः का अर्थ है "जो कि मृत-अन्न नहीं खाते"। इससे भी सूचित होता है कि मरने से पैदा हुआ अन्न, अर्थात् मांस, देवों का भोजन नहीं।

(२) वेदों में परमात्मा का नाम पशुपति भी है। जिसका अर्थ है "पशुओं की रक्षा करने वाला"। वेद परमात्मा की वाणी है। परमात्मा यदि वेद में, यज्ञ में पशुवध की आज्ञा देता तो वह पशुपति के नाम से कैसे पुकारा जाता?

दूसरा प्रकरण

पशुरक्षा विषयक सामान्य आज्ञाएं और प्रार्थनाएं

वेदों में स्थान २ पर पशुरक्षा के सम्बन्ध में आज्ञाएं तथा प्रार्थनाएं हैं। वेदों को, यज्ञ में, पशुवध यदि अभीष्ट होता तो वे पशुरक्षा के लिये इतने उत्सुक न होते। उन आज्ञाओं तथा प्रार्थनाओं का कुछ नमूना पाठकों के सम्मुख रक्खा जाता है। यथा:—

(१) यजमानस्य पशून्पाहि ॥ य० १ । १ ॥

अर्थात् यजमान (यज्ञ करने वाले) के पशुओं की रक्षा कर। यहां पर "पशुरक्षा-विषयक" यह आज्ञा राजा के प्रति दी गई है। जो मनुष्य यज्ञशील है उस के पशुओं की रक्षा करना राजा का धर्म है। ताकि वह यजमान, पशुओं के दूध, दही और घी द्वारा यज्ञ कर सके। पशुरक्षा के विना दूध आदि का पुष्कल होना असम्भव है। और इन वस्तुओं की पुष्कलता के विना यज्ञों का घर २ में प्रसार नहीं हो सकता। और जो यजमान नहीं अर्थात् पशुओं के होते हुए भी जो यज्ञ नहीं करता, उस के पशुओं की रक्षा का भार भी राजा पर नहीं।

(२) कृत्यामपसुव ॥ य० ३५ । ११ ॥

अर्थात् हिंसा को तू छोड़ दे । इस वाक्य में सब प्रकार के प्राणियों की हिंसा के निषेध की सामान्य आज्ञा है । कृत्या का अर्थ है हिंसा। कृत्या शब्द "कृती धातु" से बना है, जिसका अर्थ है छेदन अर्थात् काटना । इस लिये " तू प्राणियों का काटना छोड़ दे " इस आज्ञा द्वारा यही दर्शाया है कि तू प्राणियों की हिंसा छोड़ दे ।

(३) मा हिंसीः पुरुषं जगत् ॥ य० १६ । ३ ॥

अर्थात् तू पुरुष की और पुरुष से अतिरिक्त अन्य किसी जङ्गम प्राणी की हिंसा न कर ।

(४) मा हिंसीः तन्वा प्रजाः ॥ य० १२ । ३२ ॥

अर्थात् हे मनुष्य ! तू अपने देह से किसी भी प्राणी की हिंसा न कर ।

(५) स्वधिते मैनं हिंसीः ॥ य० ६ । १५ ॥

अर्थात् हे खड्ग ! तू इस प्राणी की हिंसा न कर ।

(६) ओषध्यास्ते मूलं मा हिंसिषम् ॥ य० १ । २५ ॥

अर्थात् हे ओषधि ! मैं तेरे मूल अर्थात् जड़ की कभी हिंसा न करूं ।

(१) कृती छेदने ।

(७) पशूँस्त्रायेथाम् ॥ य० ६ । ११ ॥

अर्थात् हे स्त्री पुरुषो ! तुम दोनों मिल कर पशुओं की रक्षा करो ।

(८) ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे ॥ य० ११ । ८३ ॥

इस का अभिप्राय यह है कि हे प्रभो ! हमारे दो पग वाले मनुष्यों तथा पक्षियों, और चार पग वाले पशुओं को बल प्रदान करो ।

(९) द्विपाच्चतुष्पादस्माकं सर्वमस्त्वनातुरम् ॥ य० १२ । ९५ ॥

हमारे द्विपाद् अर्थात् पुरुष तथा पक्षी, और चतुष्पाद् अर्थात् चौपाए पशु, रोग तथा कष्ट से रहित हों । इस प्रकार यहां मनुष्य, पक्षी तथा पशु इन सब की अनातुरता के लिये प्रार्थना की गई है ।

(१०) एषां प्रजानामेषां पशूनां मा भेर्मा रोक् ॥ य० १६ । ४७ ॥

अर्थात् हे प्रभो ! इन प्रजाजनों और इन पशुओं में से किसी को भी न तो भय हो और न रोग हो । इस प्रकार यहां पशुओं के सम्बन्ध में प्रार्थना की गई है कि हे प्रभो ! आप इन पशुओं को सब प्रकार के भयों से रहित कीजिये और कृपा कीजिये कि इन्हें कोई रोग न सतावे ।

(११) अभयं नः पशुभ्यः ॥ य० ३६ । २२ ॥

अर्थात् हमारे पशुओं को अभय हो। पशुओं के लिये यह अभयदान, पूर्ण अहिंसाव्रत के बिना असम्भव है।

(१२) द्विपादव चतुष्पात्पाहि ॥ य० १४। ८॥

अर्थात् हे प्रभो! आप द्विपाद् अर्थात् मनुष्यों और पक्षियों की रक्षा कीजिये, तथा चतुष्पाद् अर्थात् चौपाए पशुओं की भी रक्षा कीजिये।

(१३) शमसद् द्विपदे शं चतुष्पदे। विश्वं पुष्टं ग्रामे अस्मिन्ननातुरम् ॥ य० १६। ४८॥

इस मन्त्र—भाग में दो पैर वालों तथा चार पैर वालों के लिये शान्ति की इच्छा की गई है, और यह भी इच्छा की गई है कि इस ग्राम में (जिस में कि प्रार्थी रहता है) रहने वाले सम्पूर्ण प्राणी हृष्ट पुष्ट तथा रोग और कष्टों से रहित हों।

(१४) स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः। विश्वं सुभूतं सुविदत्रं नो अस्तु ज्योगेव दृशेम सूर्यम् ॥ अथर्व० १। ३१। ४॥

अर्थात् हमारी माताओं के लिये कल्याण हो, हमारे पिताओं के लिये कल्याण हो, गौओं तथा अन्य सब पशुओं के लिये कल्याण हो, जगत् के लिये कल्याण हो, सब पुरुषों के लिये कल्याण हो। सम्पूर्ण जगत् उत्तम ऐश्वर्य तथा उत्तम ज्ञान से युक्त हो, हम सब निरन्तर सूर्य को देखते रहें।

(१५) तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य षष्ठः प्राणः प्रियो नाम त इमे पशवः ॥ अथर्व० १५ । १५ । ८ ॥

इस का अभिप्राय यह है कि व्रात्य अर्थात् व्रतपति परमात्मा का जो छठा प्राण है, जोकि सब को प्यारा है, वह पशुरूप है । अर्थात् "पशु" व्रतपति परमात्मा के प्रिय प्राणरूप हैं।

यह मन्त्र कितने स्पष्टरूप में पशुबध का निषेधक है, इसे पाठक स्वयं अनुभव करें । क्या परमात्मा, अपने प्रिय प्राणरूप पशुओं के बध की आज्ञा वेद में दे सकता है ?। मन्त्र में यह दर्शाया है कि पशु ही परमात्मा के प्रिय प्राण हैं । प्रत्येक प्राणी को अपने प्राण कितने प्यारे होते हैं । इसी प्रकार परमात्मा को भी अपने प्राण अत्यन्त प्यारे हैं । पशु, परमात्मा के प्राणरूप हैं । इसलिये पशु का बध करना परमात्मा के प्राणों के बध करने के समान है । जिसने पशुओं का बध किया, मानो कि, उसने परमात्मा का ही बध किया । इस प्रकार यह मन्त्र पशुओं के बध का सर्वथा निषेधक है ।

ऊपर लिखे गये कतिपय मन्त्रभागों के अध्ययन से पाठक जान सकेंगे कि वेद में प्राणियों की रक्षा, अनातुरता तथा कल्याण के लिये कितनी दृढ़ भावना है । वैदिक अहिंसा का भाव इतना विस्तृत और विशाल है कि इसमें ओषधियों की जड़ तक के विनाश करने को भी हिंसा में परिगणित किया है ।

जिस वेद का हिंसा और अहिंसा सम्बन्धी क्षेत्र इतना विस्तृत हो, वह यज्ञ में पशुबध के लिये आज्ञा दे, यह समझ में नहीं आ सकता। वेदों में पशुरक्षा या प्राणीरक्षा सम्बन्धी अनगिनत वाक्य विद्यमान हैं। परन्तु मैंने नमूने के रूप में ही कतिपय वाक्य यहां उद्धृत किये हैं, जो पशुबध या पशुरक्षा के सम्बन्ध में वैदिक आज्ञाओं या भावों को स्पष्ट दिखाने में पर्याप्त हैं।

तीसरा प्रकरण

गोमेध

अथर्ववेद, काण्ड ११, सूक्त २ के ९ में मन्त्र में पांच पशु गिनाए हैं। यथाः—

तवेमे पञ्च पशवो विभक्ता गावो अश्वाः पुरुषा अजावयः ॥ अथर्व० ११। २। ९॥

मन्त्र के इस भाग में पशुओं के ५ विभाग किये हैं। गौएं, घोड़े, पुरुष, बकरे और भेड़ें। हमारे पौराणिक भाइयों ने, इन्हीं पशुओं के आधार पर, हिंसामय पांच मेधों अर्थात् यज्ञों की कल्पना की है। वे मेध निम्नलिखित हैं। यथाः—गोमेध, अश्वमेध, पुरुषमेध या नरमेध, अजमेध और अविमेध।

गोमेध के पौराणिक अर्थ

पौराणिक विद्वान्, प्रायः, गोमेध का अर्थ करते हैं "गोयज्ञ" जिस में कि गौओं को काट कर, अग्नि में, उनके अङ्गों की आहुति दी जाती है।

इस की समीक्षा

गोमेध के इस पौराणिक भाव की अब समीक्षा की जाती है, जो कि निम्नलिखित है। यथाः—

(१) वैदिक कोष निघण्टु में गौओं के नाम निम्नलिखित मिलते हैं। यथाः—

अघ्न्या, उस्रा, उस्रिया, अही, मही, अदितिः, इळा, जगती, शक्वरी ॥ निघं० २। ११ ॥

इन नामों में से "अघ्न्या, अही, और अदिति" पर कुछ विचार करना अत्यावश्यक है।

(क) अघ्न्या—अघ्न्या शब्द का निर्वचन यास्कमुनि ने निम्नलिखित शब्दों में किया है। यथाः—

"अघ्न्या अहन्तव्या भवति" ॥ निरु० ११, ४४ ॥

इस का अर्थ यह है कि गौ का नाम अघ्न्या इसलिये है चूंकि वह "अहन्तव्या" अर्थात् हनन करने के योग्य नहीं है।

निरुक्त के टीकाकार श्रीमद् दुर्गाचार्य जी ने निरुक्तकार के इस निर्वचन की टीका निम्नलिखित शब्दों में की है। यथाः—

"अघ्न्या कस्मात्?। सा हि सर्वस्यैव अहन्तव्या भवति"।

इस का अभिप्राय यह है कि गौ को अघ्न्या इसी लिये कहते हैं क्योंकि वह सब के लिये ही "अहन्तव्या" अर्थात् हनन करने के योग्य नहीं।

निरुक्त ३, ६ की टीका में भी, टीकाकार श्री दुर्गाचार्य, अघ्न्या पद की व्याख्या में "अघ्न्या अहन्तव्या भवति"

ऐसा ही लेख लिखते हैं। इसी प्रकार निघण्टु में भी अघ्न्या पद की व्याख्या में, निघण्टु के भाष्यकार श्री देवराज यज्वा "अघ्न्या अहन्तव्या" लेख लिखते हैं।

इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि निघण्टु, निरुक्त, दुर्गाचार्य तथा देवराज यज्वा अघ्न्या पद के आधार पर गौ के हनन का सर्वथा निषेध कर रहे हैं।

वैदिक मन्त्रों में स्थान २ पर गौ के लिये अघ्न्या पद का लेख है। वेदों में गौ के लिये अघ्न्या पद का लेख बिना विशेष अभिप्राय के नहीं हो सकता। वैदिक नाम यौगिक हैं। वेदों में गौ के लिये अघ्न्यां पद इसीलिये रक्खा गया है ताकि वेदों के स्वाध्याय करने वाले को "अघ्न्या" इस नाम से ही ज्ञात होजाय कि वेदों में गौ के हनन का सर्वथा निषेध है। महाभारत, शान्तिपर्व, अ० २६३ में अघ्न्या शब्द के सम्बन्ध में निम्नलिखित श्लोक मिलता है। यथाः—

> अघ्न्या इति गवां नाम क एता हन्तुमर्हति।
> महच्चकाराकुशलं वृषं गां वाऽलभेत्तु यः॥

इसका अभिप्राय यह है कि अघ्न्या गौओं का नाम है, इनका कोई हनन नहीं कर सकता। जो बैल या गौ का हनन करता है वह महापापी है।

(१) देखो, यजुर्वेद १। १॥

इस प्रकार अघ्न्या पद से यह प्रतीत हुआ कि गौओं का हनन न करना चाहिये। अब गौ के दूसरे नाम "अह्नी" पर विचार किया जाता है।

(ख) **अह्नी**:—अह्नी शब्द के निर्वचन में निघण्टु टीकाकार श्री देवराज यज्वा लिखते हैं, "**अह्नी न हन्तव्या वा**"। अर्थात् गौ का नाम अह्नी इसलिये है चूंकि वह "**न हन्तव्या**" अर्थात् हनन करने के योग्य नहीं। इस प्रकार गौ का नाम **अह्नी** भी गौ के सम्बन्ध में उसी बात की साक्षी दे रहा है, जिसकी साक्षी अभी अघ्न्या पद ने दी है। अब गौ के तीसरे नाम **अदिति** पर विचार किया जाता है।

(ग) **अदिति**:—अदिति शब्द के निर्वचन में निघण्टु की टीका में श्रीदेवराज यज्वा लिखते हैं, "**न द्यति, अखण्ड-नीया वा**"। इसका अभिप्राय यह है कि गौ का नाम अदिति इसलिये है चूंकि वह **अखण्डनीया** है, अर्थात् उसके अङ्गों को खण्ड २ या टुकड़ों में नहीं करना चाहिये। अदिति शब्द में **अ** और **दिति** ये दो भाग हैं। दिति भाग **दो** धातु से बना है जिस का अर्थ है "काटना"। यथाः—**दो अवखण्डने**। इसलिये अदिति शब्द का अर्थ हुआ **अ+दिति**, अर्थात् वह जो कि काटी न जाय या काटे जाने के योग्य न हो।

---

(१) अह्नी=अ+हन्। हन्=मारना अर्थात् घात करना॥

इस प्रकार गौ के तीन नामों पर विचार करने से स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि, गौ का यज्ञ में काटना, वैदिक भाव के सर्वथा विपरीत है। यदि वेद को यज्ञों में गौ का वध करना अभीष्ट होता, तो वेद में गौ के ऐसे नाम ही न होते जिन का भाव यह है कि गौ का हनन न करना चाहिये।

(२) पाठकों के विचार के लिये, यहां कतिपय वेदमन्त्र लिखे जाते हैं, जो गोसम्बन्धी हैं। उन से स्पष्ट परिणाम निकलता है कि गोमेध का पौराणिक भाव सर्वथा असङ्गत है। यथाः—

(क) आ गावो अग्मन्नुत भद्रमक्रन्त्सीदन्तु गोष्ठे रणयन्त्वस्मे।
प्रजावतीः पुरुरूपा इह स्युरिन्द्राय पूर्वीरुषसो दुहानाः॥ १॥

अर्थः—गौएं हमें प्राप्त हों और हमारा कल्याण करें। वे हमारी गोशाला में रहें और हमें आनन्दित करें। वे इस घर में सन्तानवती हों। वे गौएं अनेक वर्ण वाली हों[2]। और उषःकालों में वे इन्द्र[3] के लिये दूध देती रहें।

---

(१) यहां से सात मन्त्र अथर्ववेद, काण्ड ४ और सूक्त २१ के हैं।

(२) भिन्न २ रङ्ग वाली गौओं के दूध के गुणधर्म भी भिन्न २ होते हैं।

(३) इन्द्र का अर्थ वैश्य भी होता है। यथाः—अथर्व० काण्ड ३, सूक्त १५, मन्त्र १ में इन्द्र को वणिक् अर्थात् बाणिया कहा है। उस

इन्द्रो यज्वने गृणते च शिक्षते उपेद्ददाति न स्वं मुषायति ।
भूयो भूयो रयिमिदस्य वर्धयन्नभिन्ने खिल्ये निदधाति देवयुम् ॥२॥

अर्थः—यज्ञ करने वाले, शिक्षा तथा उपदेश देने वाले, और शिक्षा ग्रहण करने वाले के लिये, इन्द्र, गोधन अवश्य ही देता है; उन से, वह, उस गोधन को छीन नहीं लेता। दिव्य गुणों वाले मनुष्य के धन को, इन्द्र, लगातार बढ़ाता रहता है, और उसे इन्द्र निरन्तर अपनी रक्षा में रखता है[1] ।

न ता नशन्ति न दभाति तस्करो नासामामित्रो व्यथिरादधर्षति ।
देवांश्च याभिर्यजते ददाति च ज्योगित्ताभिः सचते गोपतिः सह॥३॥

अर्थ—गोपति अर्थात् गोस्वामी जिन गौओं के द्वारा यज्ञ तथा दान करता है, उनके साथ वह सदैव रहता है, उसकी गौओं का न तो कोई हनन कर सकता है और न उन्हें चोर ही चुरा सकता है और न कोई व्यथादायक अमित्र (शत्रु) ही उन पर प्रहार कर सकता है[2]।

वैश्यरूपी स्वामी को वे गौएं उषःकाल में दूध देती हैं, यह अभिप्राय है। उषःकाल का प्रयोग, प्रायः, प्रातःकाल में ही होता है। सम्भवतः, प्रातः-काल ही गौओं से दूध लेना न्यायानुकूल हो। अतः सायंकाल का दूध बछड़ों को पिला देना चाहिये।

(१) इस मन्त्र में इन्द्र का अर्थ राजा प्रतीत होता है।

(२) इस मन्त्र का अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि राजा को चाहिये कि गोस्वामी की उन गौओं को, जिनसे न तो वह यज्ञ ही करता

न ता अर्वा[1] रेणुककाटोऽश्नुते न संस्कृतत्र[2] मुपयन्ति ता अभि।
उरुगायमभयं तस्य ता अनु गावो मर्तस्य विचरन्ति यज्वनः ॥४॥

और न कोई दान पुण्य ही करता है, गोस्वामी से अवश्य छीनले। और जो गोस्वामी अपनी गौओं द्वारा ऊपर कहे दोनों कार्य करे, राजा को चाहिये कि ऐसे गोस्वामी की गौओं की, चोर, लुटेरे तथा हिंस्रजनों और हिंस्र-पशुओं से रक्षा करे। ताकि उस गोस्वामी की गौओं का हनन कोई न कर सके। इस मन्त्र में यह भी कहा है कि वह गोस्वामी, जोकि गौओं द्वारा यज्ञ करता तथा उन द्वारा दान करता है, उन गौओं के साथ सदैव संयुक्त रहता है। यदि गोद्वारा यज्ञ करने का अभिप्राय यह हो कि गौओं को काटकर अग्नि में डाला जाय, तो वह यज्ञ करने वाला गोस्वामी फिर गौओं के साथ सदैव संयुक्त कैसे रह सकता है?। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि गौओं से यज्ञ करने का अभिप्राय गौओं के दूध, दही और घी आदि से यज्ञ करने का है न कि गौओं को काट कर उनके अङ्गों द्वारा यज्ञ करने का। यदि यह अन्तिम अभिप्राय अभीष्ट होता, तब गौएं तो यज्ञाग्नि में भस्म हो चुकीं, तो पुनः वह गोस्वामी, उन गौओं के साथ सदैव संयुक्त कैसे रहा?। इस मन्त्र में गोदान का अभिप्राय भी गोव्यक्ति के दान से नहीं, अपितु उसके दूध, दही, मक्खन, घी, मठा आदि के दान से है। नहीं तो गोदान द्वारा दाता और गौओं की तो परस्पर जुदाई हो ही गई, तब यह वर्णन कि गौओं के दान करने पर भी वह दाता अपनी गौओं के साथ सदैव संयुक्त रहता है सर्वथा अनुपपन्न हो जाता। इसलिये इस मंत्र में गौ का अर्थ है गौ से उत्पन्न दूध। इसी प्रकार जहां कहीं भी गोद्वारा यज्ञ करने का वर्णन हो वहां गौ शब्द से गौ का दूध आदि ही जानना चाहिये।

(१) सायणाचार्य ने "अर्वा" का अर्थ किया है—हिंसक।

(२) संस्कृतत्र का अर्थ सायणाचार्य ने किया है—मांसपाचक।

अर्थः—हिंसक जन उन गौओं को प्राप्त नहीं कर सकता, और न वे गौएं मांसभक्षी को ही प्राप्त होती हैं। यज्ञ करने वाले मनुष्य की वे गौएं निर्भय होकर खुले स्थानों में विचरती हैं ¹।

गावो भगो गाव इन्द्रो म इच्छात् गाव: सोमस्य प्रथमस्य भक्ष:।
इमा या गावः स जनास इन्द्र इच्छामि हृदा मनसा चिदिन्द्रम् ॥५॥

अर्थः—गौएं ऐश्वर्य हैं, इन्द्र मुझे गौएं दे, श्रेष्ठ सोम का भक्ष्य गौएं हैं। हे मनुष्यो ! ये गौएं ही इन्द्र है, इसलिये मैं हृदय और मन से इन्द्र की चाहना करता हूं।

अभिप्राय-(अ) इस मन्त्र में, गौओं को, मनुष्य की सर्वोत्कृष्ट सम्पत्ति कहा है। धातवीय धन वास्तविक सम्पत्ति नहीं। धातवीय-धन के उपार्जन की इच्छा भी इसी लिये

प्रो० ह्विटनी ने इसका अर्थ किया है "Slaughter House" अर्थात् सूनागृह (कसाईखाना)। इस अर्थ में ऊपर के मन्त्रभाग का भाव यह होगा कि वैदिक राजा के राज्य में गौएं कसाईखानों में नहीं जाने पातीं।

(१) हिंसकजन और मांसभक्षी गौओं को प्राप्त नहीं कर सकते। कारण यह कि वैदिक राजा के राज्य में हिंसक तथा मांसभक्षी जनों को गौएं रखने का अधिकार ही नहीं। यज्ञशील मनुष्य की गौएं, वैदिक राज्य में, निर्भय होकर खुले मैदानों में विचरती हैं। कारण यह कि ऐसे यज्ञशील मनुष्य की गौओं का रक्षाभार राजा स्वयं अपने ऊपर लेता है। यदि गोमेध का पौराणिक भाव वेदाभिमत होता तो इस मन्त्र के प्रथम अर्धभाग का भाव सर्वथा निरर्थक हो जाता।

होती है ताकि हम खाने, पीने, पहिनने तथा आराम की वस्तुएं सुभीते से ले दे सकें।

(इ) गौएं ही इन्द्र है। इन्द्र का अर्थ है राजा। जिस राजा के राज्य में गौएं नहीं, और अतएव जिस राजा के राज्य में उत्तम दूध, दही, घी, मक्खन, मलाई आदि पदार्थ दुर्लभ वा अप्राप्य हैं, वह वस्तुतः राजा भी नहीं— यह यहां पर अभिप्राय है। इसी लिये गौओं का राजा रूप से वर्णन किया है। जिस से यह सूचित किया है कि राज्य में गौओं की अधिकता अवश्य होनी चाहिये।

(उ) मैं मन और हृदय से इन्द्र की चाहना करता हूं। अभी दर्शाया है कि इस मन्त्र में गौओं का राजा रूप से वर्णन किया गया है। अतः इन्द्र को हृदय और मन से चाहने का अभिप्राय है गौओं को हृदय और मन से चाहना।

(ऋ) श्रेष्ठ सोम का भक्ष्य गौएं हैं। इस का अभिप्राय क्या!। सब ओषधियों में से सोम ओषधि अधिक दिव्य गुणों वाली है, इसी लिये सोम को श्रेष्ठ कहा। वेद में इसी अभिप्राय से ही सोम ओषधि को अन्य सब ओषधियों का राजा भी कहा है। याज्ञिक लोग इस सोम ओषधि के रस को निकाल कर, उस में गौके दूध अथवा दही को मिला कर, खाते हैं। इस से सोम ओषधि का रस अधिक गुणकारी और स्वादु

बन जाता है। सोमरस के साथ गौ के दूध या दही को प्रायः मिलाया जाता है। इस का वर्णन हम यूँ भी कर सकते हैं कि सोमरस का भक्ष्य गोदुग्ध अथवा दधि है। मन्त्र में न तो सोमरस का वर्णन है और न गोदुग्ध का। अपितु, मन्त्र में सोमरस के स्थान में सोम ओषधि का, तथा गोदुग्ध के स्थान में गौ का ही वर्णन है। परन्तु याज्ञिक लोग सोम ओषधि के साथ गौओं को नहीं मिलाते। अतः मन्त्र में पढ़े गये सोम शब्द से "सोम का रस" रूपी अर्थ लिया जायगा, और गो शब्द से "गौ का दूध आदि"[1]। परन्तु मन्त्र में, चूँकि, सोम शब्द और गो शब्द ही पठित हैं, इसी लिये अर्थ यह किया गया है कि श्रेष्ठ सोम का भक्ष्य गौएं हैं। जिसका वास्तविक अभिप्राय यह है कि सोमरस के साथ गोदुग्ध अथवा दधि मिलाना चाहिये।

यूयं गावो मेदयथा कृशं चिदश्रीरं चित्कृणुथा सुप्रतीकम्।
भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद्वो वय[2] उच्यते सभासु ॥ ६ ॥

अर्थः—हे गौओ! तुम कृश को भी स्थूल कर देती हो,

(१) जैसे इस स्थान में गौ शब्द से चार टांगों वाली गौ नहीं लीगई, अपितु इस से गौ का दूध या दही अर्थ लिया है, इसी प्रकार जहां गोमेध अथवा गोयज्ञ का वर्णन हो वहां पर भी गोदुग्ध आदि से ही यज्ञ करने का अभिप्राय है, न कि गौ के अङ्गों द्वारा यज्ञ करने का। इसी प्रकार अजा आदि शब्दों के भी अभिप्राय जानने चाहियें।

(२) वयः=अन्न; निघं० अ० २। खं० ७॥

और कान्तिरहित को भी सुन्दरमुख करती हो। तुम घर को कल्याणमय और सुखमय करती हो। हे भद्रवाणी वाली गौओ ! सभाओं में तुम्हारा अन्न बड़ा गिना जाता है।

इस मन्त्र में भी गौओं के मांस द्वारा मनुष्य की स्थूलता तथा सुरूपता का वर्णन नहीं, अपितु उनके दुग्धादि अन्न के खान पान द्वारा मनुष्य की स्थूलता तथा सरूपता का वर्णन है। तभी मन्त्र में कहा है कि गौओं के अन्न की प्रशंसा राजकीय तथा सामाजिक सभा और समितियों में होती है। अतः खाने या यज्ञ के सम्बन्ध में जहां २ गौओं का वर्णन हो वहां २ उनके अन्न अर्थात् दूध आदि का ही वर्णन जानना चाहिये।

प्रजावतीः सूयवसे रुशन्तीः शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिबन्तीः।
मा वः स्तेन ईशत माघशंसः परि वो रुद्रस्य हेतिर्वृणक्तु॥ ७॥

अर्थः—हे गौओ ! तुम प्रजा से सम्पन्न होओ, उत्तम घास वाले चरागाहों में विचरो, सुखपूर्वक जिनसे जल पिया जा सके ऐसे जलाशयों में से शुद्ध जल को पीओ। चोर और घातक तुम्हारा स्वामी न बने, क्रूर मनुष्य का शस्त्र भी तुम पर न गिरे। *

* इस मन्त्र में स्पष्ट कहा है कि घातक मनुष्य अपने पास गौएं रख ही न सके, और न गौओं पर क्रूर मनुष्य का शस्त्र ही गिरे। इस प्रकार का दयार्द्र-हृदय वेद, गौओं को काटकर, उन्हें यज्ञाग्नि में भस्म कर देने की आज्ञा कैसे दे सकता है ?।

सूक्त का सारांश

इस गोसूक्त को पढ़कर निम्नलिखित भाव हृदय में जागृत होते हैं—

(अ) गौएं मनुष्य जाति का कल्याण करने वाली तथा उनके जीवन को सुखमय बनाने वाली हैं।

(आ) गौओं का काम दूध देना है न कि मांस देना।

(इ) राजा को चाहिये कि वह यज्ञशील, उपदेष्टा, अध्यापक तथा विद्यार्थियों के लिये गोदान करे।

(ई) राजा को चाहिये कि जो गोस्वामी अपनी गौओं के दूध से यज्ञ करता है उसकी गौओं की वह पूर्ण रक्षा करे।

(उ) यह राजनियम होना चाहिये कि घातक लोग अपने पास गौएं न रख सकें।

(ऊ) यह राजनियम होना चाहिये कि गौओं का न तो मांस पक सके और न वे कसाईखाने में ही जाने पायें।

(ऋ) गौओं के विचरने के लिये खुले मैदान होने चाहियें।

(ॠ) गौओं को श्रेष्ठ और मुख्य सम्पत्ति जानना चाहिये।

(ऌ) जिस राज्य में गौएं नहीं उस राज्य का राजा वस्तुतः राजा भी नहीं।

(ए) गोरक्षक राजा की हृदय और मन से चाह करनी चाहिये ।

(ऐ) शारीरिक पुष्टि तथा शारीरिक कान्ति के लिये गोदुग्ध से उत्तम कोई भी पदार्थ नहीं ।

(ओ) गौओं का दूध आदि अन्न महा—अन्न है ।

(औ) गौओं के चरने के लिये उत्तम २ चरागाह होने चाहियें ।

(अं) जल पीने के लिये ऐसे जलाशय होने चाहियें जिनमें कि जल शुद्ध हो, और गौएं सुखपूर्वक उनमें से जल पी सकें ।

(अः) ऐसा राजनियम होना चाहिये कि क्रूर मनुष्य गौओं पर शस्त्रपात न कर सकें ।

इस गोसूक्त को पढ़कर भी गोमेध का पौराणिक भाव क्या सत्य प्रतीत हो सकता है ? ।

(ख) यः पौरुषेयेण क्रविषा समङ्क्ते यो अश्व्येन पशुना यातुधानः ।
यो अघ्न्याया भरति क्षीरमग्ने तेषां शीर्षाणि हरसाऽपि वृश्च ॥
अथर्व० ८। ३। २५॥

अर्थः—जो मनुष्य, घोड़े तथा अन्य पशु[1] पक्षियों के मांस से अपने आप को पुष्ट करता है, तथा जो न हनन करने योग्य

---

(१) वेद में पशु शब्द दोपायों तथा चौपायों के लिये भी प्रयुक्त होता है, अतः पशु शब्द का अर्थ पशु-पक्षी किया गया है ।

गौओं का हनन कर उन के दूध का अपहरण करता है, हे अग्निस्वरूप राजन् ! तू उन के सिरों को वज्र से काट डाल।

(ग) माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः। प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट॥ ऋग्वे० ८। १०१। १५॥

अर्थ—"गौ" वसु, रुद्र और आदित्यों की कन्या, माता और भगिनी के सदृश है, यह दूधरूपी अमृत की जननी है। मैं सम्यग्ज्ञानी को कहता हूं कि तू निरपराध तथा जिस-

(१) गौओं के हनन से उनकी संख्या कम हो जाती है, और गौओं की संख्या के कम होने पर दूध की मात्रा भी कम हो जायगी। दूध के अपहरण का अभिप्राय यही है।

(२) जो वेद प्राणिहिंसकों तथा मांसभक्षियों के लिये प्राणदण्ड का विधान करता है वह नरमेध, अश्वमेध और गोमेध आदि में पुरुष, अश्व और गौ आदि के बध की आज्ञा देगा—इस पर निष्पक्ष पाठक स्वयमेव विचार करलें।

(३) वेद में निरपराधी की हत्या का सर्वथा निषेध है। इसके लिये निम्नलिखित मन्त्र विचारणीय है। यथाः—

अनागोहत्या वै भीमा कृत्ये मा नो गामश्वं पुरुषं वधीः।
यत्र यत्रासि निहिता ततस्त्वोत्थापयामसि पर्णाल्लघीयसी भव॥
अथर्व० १०। १। २६॥

अर्थः—निरपराधी की हत्या वास्तव में भयानक है। हे क्रूर क्रिये ! तू गौ, घोड़े और पुरुष की हत्या न कर। जहां २ तू ठहरी हुई

का नाम ही अदिति है उस गौ का बध न कर।

यह मन्त्र कितना स्पष्ट और भावपूर्ण है। इस में दर्शाया है कि वसु, रुद्र और आदित्य ब्रह्मचारियों के लिये गौ—कन्या, माता और भगिनी के समान हितकारिणी है। क्योंकि गौ ही के सात्विक दूध, दही, मक्खन और घृत आदि के सेवन से ये ब्रह्मचारी राजस और तामस भावों पर विजय पाकर अपना २ व्रत पूर्ण करते हैं। मन्त्र में यह भी कहा है कि गौ का दूध अमृत है। अतः अमृत के स्रोत-रूपी-गौ के बध करने से दूध-रूपी-अमृत का पाना अत्यन्त दुर्लभ हो जायगा। गौ निरपराध है। बल्कि अत्यन्त उपकारी प्राणी है। परमात्मा ने वेद-वाणी में गौ का नाम ही अदिति रक्खा है। अदिति उसे कहते हैं जिस का कि बध न किया जाय। इस से भी गोबध का सर्वथा निषेध द्योतित होता है। और इस

है, हम तुझे वहां २ से उठा देते हैं (और तेरा इतना अपमान करते हैं जिससे कि तू) पत्ते से भी हलकी हो जाय।

भावः—(क) सापराधी की हत्या भयावह नहीं, निरपराधी की हत्या भयावह है। गौ निरपराधी प्राणी है, अतः उसकी हत्या न करनी चाहिये। (ख) जो स्त्री पशुओं पर क्रूरता करे उसे नगर से निकाल देना चाहिये। (ग) और उसका इतना अपमान करना चाहिये कि वह सब नगरवासियों में हलकी जचने लगे, अर्थात् नगरवासियों के हृदयों में उसके प्रति कोई भी मान या आदर का भाव न रह जाय।

(१) अदिति=अ+दो (काटना)+ति=जो काटने योग्य नहीं।

मन्त्र के अन्त में स्पष्ट वैदिक आज्ञा भी है कि तू इस निरपराधी गौ का बध न कर।

(घ) वचोविदं वाचमुदीरयन्तीं विश्वाभिर्धीभिरुपतिष्ठमानाम्।
देवीं देवेभ्यः पर्येयुषीं गामा मा वृक्त[१] मर्त्यो दभ्रचेताः[२]॥
ऋग्वे० ८। ३। १६॥

अर्थः—गौ की कातर वाणी को समझने वाले के प्रति जो गौ कातर वाणी बोलती है, जो सम्पूर्ण बुद्धियों और कर्मों के साथ उपस्थित होती है, जो दिव्य गुणों वाली है, और जो देवों के लिये (देवयज्ञ करने के लिये) प्राप्त हुई है—ऐसी गौ को हिंसारत मनुष्य न काटे।

इस मन्त्र में गौ की कातर वाणी का वर्णन है। साथ यह भी कहा है कि गौ के विना, न तो मनुष्य में सात्विक बुद्धि-शक्ति का प्राबल्य होता है और न वैदिक यज्ञकर्म ही सिद्ध होते हैं। क्योंकि गौ के दूध, दही, घी आदि पदार्थ ही बुद्धि शक्ति के बढ़ाने वाले तथा यज्ञीय कर्मों के साधक हैं। मन्त्र में कहा है कि गौ देवी है, वह देवकर्म (यज्ञ) के लिये प्राप्त हुई है, ऐसी गौ को काटना न चाहिये। गौ प्राप्त हुई है "देवयाग के लिये" यह मन्त्र में स्पष्ट कहा है, साथ ही यह भी कहा है कि उसे काटो नहीं। अतः इस वर्णन से यह भाव अवश्य

(१) ओव्रश्चू छेदने॥
(२) दम्भु हिंसायाम्॥

निकलता है कि गौ द्वारा निष्पन्न देवयाग गौ के काटने से सिद्ध नहीं, अपितु, उस के दूध आदि के प्रयोग से सिद्ध होता है।

(ङ) गां मा हिंसीरदितिं विराजम्[1]। यजु० अ० १३। मं० ४३॥

अर्थः—गौ जो कि अदिति (न काटने लायक) है, और जो विराट् अर्थात् अन्न के देने वाली है—उस की हिंसा न कर।

(च) इमं साहस्रं शतधारमुत्सं[2] व्यच्यमानं सरिरस्य मध्ये।
घृतं दुहानामदितिं जनायाग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन्॥
यजु० अ० १३। मं० ४९॥

अर्थः—सैंकड़ों तथा हज़ारों का धारण और पोषण करने वाली, दूध का कुआं, जनों के लिये घृत देने वाली, और न काटने योग्य जो गौ है, उस की हिंसा इन लोकों में न कर[3]।

शतपथ ब्राह्मण, कां० ७, प्र० ४, अ० ५, ब्रा० २ की ३४ वीं कण्डिका में इस मन्त्र की व्याख्या निम्नलिखित शब्दों में की है। यथाः—

(१) अन्नं वै विराट्; अन्नमु गौः ॥ शतपथ ब्रा० ७।४।२।१९॥
(२) उत्स=कूप; निघं० अ० ३। खं० २३॥ (च) यजु० १३, ४९॥
(३) इस मन्त्र में गौ के न काटने में निम्नलिखित हेतु दिये हैं। (अ) एक गौ सैंकड़ों तथा हज़ारों मनुष्यों का पालन पोषण करती है। (इ) गौ दूध का कुआं है। (उ) मनुष्यों के लिये यह घी देती है, अतः परम उपकारी है। (ऋ) इसका नाम अदिति है। अदिति का अर्थ है न काटने लायक।

अथ गौः । इमं साहस्रं शतधारमुत्समिति । साहस्रो वा एष शतधार उत्सो यद्गौः । व्यच्यमानं सरिरस्य मध्य इति । इमे वै लोकाः सरिरमुपजीव्यमानमेषु लोकेष्वित्येतद् । घृतं दुहाना-मदितिं जनायेति । घृतं वा एषादितिर्जनाय दुहे । अग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन्निति । इमे वै लोकाः परमं व्योम, एषु लोके-ष्वेनं मा हिंसीरिति ॥

अर्थः—अब गौ का वर्णन करते हैं । गौ निश्चय से सैं-कड़ों तथा हज़ारों का धारण करने वाला दुग्ध-कूप है । गौ इन लोकों में जीवन का आधार है । यह मनुष्यों को घृत देती है । इस का नाम अदिति है । अतः इन लोकों में इस की हिंसा न कर ।

(छ) मुग्धा देवा उत शुनायजन्तोत गोरङ्गैः पुरुधायजन्त ।
य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्र णो वोचस्तमिहेह ब्रवः ॥
अथर्व० कां० ७ । सू० ५ । मं० ५ ॥

अर्थः—वे मूढ़ और मदोन्मत्त हैं जो कुत्ते और गौ के अङ्गों द्वारा अनेक प्रकार के यज्ञ करते हैं । हम में से जिस ने गोयज्ञ और श्वयज्ञ को मन (विचार) से जाना है, वह उसका प्रवचन करे, और स्थान २ पर उसका प्रचार भी करे ।

प्राणियों में गौ परम पवित्र और कुत्ता परम अपवित्र है । इस मन्त्र में गौ और कुत्ते के मांस से यज्ञ करने का निषेध बहुत उत्कट भाषा में किया है । इस मन्त्र में गौ और

कुत्ता केवल उपलक्षणमात्र हैं। अतः परम पवित्र प्राणी गौ से लेकर, परम अपवित्र प्राणी कुत्ते तक सब प्राणियों के मांस द्वारा यज्ञ करने का निषेध इस मन्त्र में पाया जाता है। इस प्रकार यह मन्त्र अतिस्पष्ट शब्दों में गोमेध आदि के पौराणिक भावों का खण्डन कर रहा है। मन्त्र में यह भी कहा है कि वास्तव में गोमेध आदि यज्ञों का अन्तर्गूढ़ रहस्य और ही है, जिसे सब नहीं जानते। जो इस रहस्य को जान ले उसे चाहिये कि वह इस रहस्य का उपदेश जन समुदाय में करे।

(ज) गोपः—वेद में राजा के नाम गोप और गोपति आए हैं। गोप का अर्थ है गौओं की रक्षा करने वाला। गो+प (पालक)। गोपति का भी यही अर्थ है। गोप, गोपी, गोपाल या गवाला ये प्रचलित शब्द वैदिक गोप और गोपति शब्दों से मिलते जुलते हैं। वेदों में, राजा के नामों में, गोप और गोपति शब्द आने इस बात की सूचना दे रहे हैं कि राजा का धर्म है कि वह अपने राज्य में गौओं की रक्षा का और उनके पालन पोषण का पूरा प्रबन्ध करे। गवालों को गोप और गवालिनों को गोपी इसीलिये कहते हैं चूंकि वे गौओं को पालते और उनकी रक्षा करते हैं। राजा के नाम के तौर पर वेदों में पठित गोप और गोपति शब्द गोमेध के पौराणिक

(१) गौ का अर्थ पृथिवी भी होता है। अतः गोप=राजा।

भाव का सर्वथा खण्डन करते प्रतीत होते हैं। कृष्ण महाराज को गौओं के साथ जो अगाध प्रेम था वह इसी वैदिक आज्ञा के कारण था। चूंकि, कृष्ण महाराज अपने राज्य में गोपालन को एक मुख्य कर्त्तव्य तथा धर्म समझते थे, अतः वे, अपने दृष्टान्त द्वारा, प्रजा को गोपालन का क्रियात्मक उपदेश दिया करते थे।

(ऋ) स्तोता ते गोषखा स्यात्॥ अथर्व० २०।२७।१॥

अर्थ—तेरी स्तुति करने वाला, गौओं का सखा हो।

इस मन्त्र-वाक्य में यह दर्शाया है कि जो गो-घाती है, या जो गौओं का सखा नहीं, वह परमात्मा की सच्ची स्तुति नहीं कर सकता।

(ञ) अन्तकाय गोघातम्॥ यजु० अ० ३०, मन्त्र० १८॥

अर्थ:—गोघाती को प्राणदण्ड हो।

यजुर्वेद के तीसवें अध्याय में राष्ट्रीय धर्मों का उपदेश है। उसी अध्याय में राजा के लिये यह आज्ञा है कि वह गोघाती को प्राणदण्ड दे।

(३) वेद की गोघात या गोमेध के सम्बन्ध में क्या सम्मति है, इस का प्रतिपादन वैदिक साक्षी से कर दिया है। अब ऐतिहासिक दृष्टि से यह दर्शाया जायगा कि भारत के प्राचीन ब्राह्मण गौ के मांस से कभी यज्ञ न करते थे।

(क) "सुत निपात" नाम का एक बौद्ध धार्मिक ग्रन्थ है। उस में एक प्रकरण है जिस का नाम है " ब्राह्मण धार्मिक सुत "। इस प्रकरण में बुद्ध भगवान् के चेलों ने बुद्ध भगवान् से प्रश्न किया है कि प्राचीन ब्राह्मण कैसे थे ?। इस प्रश्न के उत्तर की परम्परा में बुद्ध भगवान् के कतिपय पालीवाक्यों का अंगरेज़ी अनुवाद यहां उद्धृत किया जाता है। यथा—

"Having asked for rice, beds, garments, butter and oil, and gathered them justly, they made sacrifices out of these, and when the sacrifice came on, they did not kill cows.

Like unto a mother, a father, a brother, and other relative, the cows are our best friends, in which medicines are produced. They give food and they give strength, they likewise give complexion and happiness, knowing the real state of this they did not kill cows.

Gods, the fore-fathers, Indra, the Asuras and the Rakshasas cried out,—this is injustice because of the weapon following on the cows.

There were formerly three diseases,—desire, hunger and decay, but from the slaying of cattle there came ninety-eight."

इस अंग्रेज़ी संदर्भ का भावानुवाद यह है कि " ब्राह्मण

लोग, चावल, बिस्तर, पहिनने के वस्त्र, घी और तैल को न्यायानुसार प्राप्त कर इन्हीं वस्तुओं के द्वारा यज्ञ करते थे, और यज्ञ में वे गोघात नहीं करते थे।

माता, पिता, भाई तथा अन्य सम्बन्धियों की तरह गौएं भी हमारे श्रेष्ठ सखा हैं, जिन में कि ओषधियां पैदा होती हैं।

गौएं अन्न और बल देती हैं, इसी प्रकार वे सुरूपता और आनन्द देती हैं, इसे जानते हुए वे गोघात कभी न करते थे।

देव, पितर, इन्द्र, असुर और राक्षस चिल्ला उठे कि यह तो भारी अन्याय है कि गौओं पर शस्त्रपात हो।

पूर्व काल में तीन ही रोग थे—इच्छा, भूख, और मृत्यु। परन्तु पशुघात के कारण ९८ रोग पैदा हो गये[२]।

(ख) इसी प्रकार चरक संहिता के चिकित्सास्थान के १० वें अध्याय में एक लेख मिलता है, जिस से यह प्रतीत होता है कि गौ तथा अन्य पशुओं का, यज्ञ के लिये हनन, कब से शुरू हुआ, और इस से नुक्सान क्या हुआ। वह लेख निम्न-लिखित है। यथा—

---

(१) दूध आदि पदार्थ ही ओषधिरूप हैं।

(२) जब बुद्ध भगवान् से प्राचीनकाल के ब्राह्मण यज्ञ में पशुवध न करते थे, तो फिर अति प्राचीनकाल के वेदों में पशुयज्ञ की विधि कैसे सम्भावित हो सकती है?।

अथ भगवानात्रेयः तदग्निवेशवचनमनुनिशम्योवाच, "श्रूयतामग्निवेश ! सर्वमेतदाखिलेन व्याख्यास्यमानम्। आदिकाले खलु यज्ञेषु पशवः समालम्भनीया[1] बभूवुर्नारम्भनाय[2] प्रक्रियन्ते स्म। ततो दक्षयज्ञप्रत्यवरकालं मनोः पुत्राणां मरिष्यन्नाभाकेक्ष्वाकु-कुविडचर्य्यादीनां च क्रतुषु पशूनामेवाभ्यनुज्ञानात्पशवः प्रोक्षणमापुः। अतश्च प्रत्यवरकालं पृषध्रेण दीर्घसत्रेण यजमानेन पशूनामलाभाद् गवामालम्भः प्रावर्त्तितः। तं दृष्ट्वा प्रव्यथिता भूतगणाः। तेषाञ्चोपयोगादुपकृतानां गवां गौरवादौष्ण्यादसात्म्यादशस्तोपयोगाच्चोपहताग्नीनामुपहतमनसामतीसारः पूर्वमुत्पन्नः पृषध्रयज्ञे"।

अर्थ—अग्निवेश नम्रता से प्रणाम कर आत्रेय ऋषि से बोले कि हे भगवन्! अतिसार की उत्पत्ति का इतिहास कृपापूर्वक कहिये। तब उत्तर में भगवान् आत्रेय बोले कि हे अग्निवेश! मैं सब की व्याख्या करता हूँ, तू सुन। आदिकाल में यज्ञों में पशु केवल शोभा के लिये होते थे, बलिदान के लिये नहीं। तदनन्तर दक्षयज्ञ के पश्चात्, मरिष्यन्, नाभाक, इक्ष्वाकु तथा कुविडचर्य आदि मनु के पुत्रों के यज्ञों में पशुओं के प्रोक्षण हुए। इसके बाद पृषध्र ने गौ के बलिदान की प्रथा चलाई। यह देख कर सब प्राणी अत्यन्त व्यथित हुए। गौ के मांस के भारी, उष्ण और अस्वाभाविक होने के कारण, उस समय, लोगों की अग्नि और बुद्धिशक्ति मन्द हो गई और अतिसार

(१) समालम्भो विलेपनं (कुङ्कमादिना गात्रविलेपनम्) इत्यमरः॥
(२) वधाय।

रोग उत्पन्न हो गया"।

चरकऋषि के इस लेख से निम्नलिखित परिणाम विस्पष्ट रूप में प्रतीत होते हैं। (अ) आदिकाल में यज्ञों में पशुबध न होता था। (आ) मनु के पुत्रों ने भी जो यज्ञ किये उनमें उन्हों ने पशुबध नहीं किया[1]। (इ) मनु के पुत्रों के चिरकाल पश्चात् पृषध्र ने यज्ञ में गोबध की प्रथा जारी की। (ई) इस नई प्रथा को देख कर सब जनसमुदाय अत्यन्त दुःखित हुआ। (उ) और इस कुप्रथा के कारण अतिसार रोग की उत्पत्ति हुई। (ऊ) चरक ऋषि के मत के अनुसार, आदिकाल में, यज्ञों में जब पशुबध की कुप्रथा ही न थी, तब सृष्टि के आरम्भकाल में, वेदों में, इस कुप्रथा की आज्ञा होगी—यह युक्तिसिद्ध प्रतीत नहीं होता।

(१) मनु के पुत्रों के समय में जब यज्ञों में पशुबध की कुप्रथा जारी न हुई थी, तब मनु के समय में उस कुप्रथा का सर्वथा अभाव होना तो स्वयंसिद्ध ही है। अतः मनुस्मृति के वे श्लोक, जिनमें कि यज्ञ में पशुहिंसा तथा मांसभक्षण आदि का वर्णन है, अवश्य ही मनुमहाराज के नहीं, अपितु, मांसलोलुप पाखण्डियों की मिलावट हैं—यह सुतरां सिद्ध है।

चौथा प्रकरण

गौ शब्द् पर विशेष विचार

वेदों में ऐसे कई स्थल आते हैं, जहां, वेदों के स्वाध्याय करने वाले के चित्त में, गोवध सम्बन्धी सन्देह पैदा होने की उत्कट सम्भावना अवश्य हो जाती है। सन्देह के ऐसे स्थानों में एक विशेष नियम अवश्य स्मरण रखना चाहिये। यास्क मुनि के शब्दों में वह नियम निम्नलिखित है। यथाः—

"अथाप्यस्यां ताद्धितेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति। "गोभिः श्रीणीत मत्सरमिति" पयसः। मत्सरः सोमो, मन्दतेस्तृप्तिकर्मणः" निरु० अ०२, खं० ५॥

यास्क मुनि के इस लेख की व्याख्या टीकाकार श्री दुर्गाचार्य निम्नलिखित शब्दों में करते हैं। यथाः—

अथाप्यस्यामेव पशुगवि, ताद्धितेन प्रयोगेनाकृत्स्नायां सत्यां कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति। तद्यथा गोभिः श्रीणीत मत्सरमिति गोरेकदेशस्य पयसः कृत्स्नवत्प्रयोगः।

अर्थः—ऊपर के दोनों लेखों का अभिप्राय यह है कि "वेदों में गौ शब्द गौ के एकदेश अर्थात् दूध के लिये भी प्रयुक्त होता है"। इस के उदाहरण में यास्क मुनि ने "गोभिः श्री-

श्रीत मत्सरम्" यह मन्त्र भाग उपस्थित किया है। इस का अर्थ यह है कि "गौओं के साथ मत्सर अर्थात् सोम को पकाओ,,। इस अर्थ से यह भाव सूचित सा होता है कि गौ के शरीर अर्थात् मांस के साथ सोम रस को पकाओ। परन्तु यह भाव यहां न लेना चाहिये। यास्कमुनि कहते हैं कि ऐसे स्थानों में गौ का अर्थ "गौ का दूध" हुआ करता है। इस लिये "गौओं के साथ सोम को पकाओ" इस का अभिप्राय यह होगा कि "गौओं के दूध के साथ सोमरस को पकाओ,, नकि गोमांस के साथ। जिस नियम द्वारा गौ शब्द से गौ का दूध अर्थ लिया जाता है उस नियम को ताद्धित-नियम कहते हैं। इसी प्रकार, वेदों में, गौओं द्वारा यज्ञ करने का जहां २ वर्णन हो, वहां २ ताद्धित-नियम द्वारा, गौ शब्द से गौ का दूध रूपी अर्थ समझना चाहिये, नकि गौ का मांस।

कीकट पद की व्याख्या करते हुए निरुक्तकार यास्कमुनि, निरुक्त अ० ६, ख० ३२ में एक मन्त्र पेश करते हैं, जिस से स्पष्ट सूचित होता है कि गौओं के रखने का यज्ञीय-प्रयोजन केवल मात्र यही है कि उनके दूध दही आदि से ही यज्ञ किया जाय, न कि उन के मांस से भी। वह मन्त्र निम्न-लिखित है। यथाः—

किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावः नाशिरं दुह्रे न तपन्ति घर्मम्॥ ऋ० ३।३।२१।४॥

(१) श्रीञ् पाके।

इस का अभिप्राय यह है कि जो गौ के दूध से यज्ञ-कर्म नहीं करते उन अनार्य लोगों के पास गौओं का रहना निष्फल है ।

इसी प्रकार ऋग्वेद के ८ । २ । ३ मन्त्र पर भी विशेष ध्यान देना चाहिये, जो कि निम्नलिखित है । यथाः—

तं ते यवं यथा गोभिः स्वादुमकर्म श्रीणन्तः ।
इन्द्र त्वास्मिन्सधमादे ॥

इस का अर्थ यह है कि यज्ञ में, इन्द्र के लिये, हम, सोम रस को गौओं के साथ पका कर स्वादु बनाते हैं । यहां पर भी ताद्धित-नियम द्वारा गौओं से गौओं का दूध अर्थ लेना चाहिये, न कि गौओं का मांस । सायणाचार्य ने भी इस मन्त्र की व्याख्या में "गौ का दूध" यही अर्थ लिया है[1] ।

---

(१) इसी ताद्धित-नियम के अनुसार गो शब्द का अर्थ दही भी लिया जा सकता है । और इसी पुस्तक के दसवें प्रकरण में निर्दिष्ट ब्राह्मण ग्रन्थों की परिभाषा के अनुसार, इस दही के विशेष २ भागों में भी त्वचा, मांस, रुधिर आदि की कल्पना की जा सकती है । अतः वेद में जहां कहीं गोमांस के भक्षण आदि की स्पष्ट आज्ञा भी प्रतीत हो, वहां दही आदि के भिन्न २ अवयवों के भक्षण की ओर निर्देश समझना चाहिये । इसी प्रकार अन्य पशुओं के सम्बन्ध में भी जानना चाहिये । यह कल्पना यद्यपि एक नवीन कल्पना है, और इस कल्पना की प्रामाणिकता के लिये प्रमाणों की अभी अपेक्षा है, तो भी, मैंने, इसी पुस्तक के दसवें प्रकरण में व्याख्यात ब्राह्मणशैली के आधार पर ही, इस नवीन कल्पना को उपस्थित करने का साहस किया है ।

पांचवां प्रकरण

अश्वमेध

अश्वमेध का पौराणिक अर्थ

पौराणिक भाव में अश्वमेध का अर्थ है वह यज्ञ, जिसमें कि, मुख्यरूप से अश्व अर्थात् घोड़े को काटकर, उसके अङ्गों की आहुति अग्नि में दी जाय।

आलोचना

इस पक्ष की आलोचना के लिये हमें यह देखना चाहिये कि वेदों में अश्व के बध के सम्बन्ध में क्या लिखा है। यदि वेदों में अश्व के बध को घृणा की दृष्टि से देखा गया हो, तब तो अश्वमेध शब्द का पौराणिक भाव, वेदों की दृष्टि में सर्वथा असङ्गत और त्याज्य ठहरेगा। और यदि वेदों में अश्व के बध की आज्ञा मिले तब तो सम्भव ही है कि अश्वमेध का पौराणिक भाव वेदानुमोदित हो। अतः इसके निर्णय के लिये निम्नलिखित वेदमन्त्रों पर अवश्य विचार करना चाहिये। यथाः—

(क) वातस्य जूतिं वरुणस्य[1] नाभिमश्वं जज्ञानं सरिरस्य मध्ये।
शिशुं नदीनां हरिमद्रिबुध्नमग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन्॥
यजु० अ० १३, मं० ४२॥

---

(१) वरुण=राजा। (२) अद्रि=पर्वत। बुध्न=शरीर, निरु० अ० १०, खं० ४४॥

अर्थः—जो वेग में वायुरूप, राजा का नाभि अर्थात् मुख्याधार, अधिक प्राणशक्तिमान्, वेग में मानो नदियों का शिशुरूप, मनुष्यों को पीठ पर चढ़ाकर दूर २ देशों में ले जाने वाला, तथा जिसका शरीर पर्वतीय कार्यों के योग्य है—उस अश्व की, हे अग्ने ! तू इस लोक में हत्या या हिंसा न कर[2]।

(ख) इमं मा हिंसीरेकशफं पशुं कनिक्रदं वाजिनं वाजिनेषु ॥
य० १३, ४८ ॥

अर्थः—इस एक (अनफटे) खुर वाले पशु की हिंसा न कर। जो कि हेषा-शब्द बारम्बार करता और जो वेगवालों में अत्यन्त वेग वाला है।

इस मन्त्र की व्याख्या में, शतपथ ब्राह्मण में, निम्नलिखित लेख मिलता है। यथाः—

"एकशफो वा एष पशुर्यदश्वः, तं मा हिंसीरिति" ॥ शत० ब्रा० ७ । ५ । २ । ३३ ॥

इसका अभिप्राय यह है कि मन्त्र में, निश्चय से, एकशफ शब्द से अश्व का ग्रहण है। इसलिये एकशफ वाले पशु अर्थात् अश्व की तू हिंसा न कर। अतः शतपथ ब्राह्मण में भी अश्व की हिंसा का निषेध अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में मिलता है।

---

(१) युद्धों में घोड़े बहुत काम आते हैं। अतः वेदों में घोड़ों को राज्य का मुख्याधार कहा है। (२) शतपथ ब्रा० कां० ७, अ० ५, ब्रा० २, कण्डि० १८ में इस मन्त्र की व्याख्या में अश्व के बध का निषेध किया है।

(ग) यो अर्वन्तं जिघांसति तमभ्यमीति वरुणः परो मर्तः परः
श्वा ॥ यजु० अ० २२, मं० ५ ॥

अर्थः—जो मनुष्य, अर्वा अर्थात् अश्व के हनन की इच्छा करता है, वरुण[1], उस मनुष्य का बध करता है। वह हिंसक मनुष्य हमारे समाज से पृथक्[2] होजाय, वह कुत्ता[3] हमारे समाज से पृथक् होजाय।

(घ) देवा आशापाला एतं देवेभ्यो[4]ऽश्वं मेधाय प्रोक्षितं रक्षत ॥
यजु० अ० २२, मं० १९ ॥

अर्थ—हे दिशाओं की रक्षा करने वाले क्षत्रिय वीरो! तुम अन्य क्षत्रिय वीरों से इस अश्व की रक्षा करो। यह अश्व राष्ट्र-यज्ञ के लिये प्रोक्षित अर्थात् स्नानादि द्वारा संस्कृत हुआ है।

(ङ) मा त्वा तपत्प्रिय[5] आत्मापियन्तं मा स्वधितिस्तन्व
आतिष्ठिपत्ते। मा ते गृध्नुरविशस्ताऽतिहाय छिद्रा
गात्राण्यसिना मिथू[6] कः ॥ यजु० अ० २५, मं० ४३ ॥

अर्थः—प्रिय आत्मा अर्थात् परमात्मा, चलते फिरते तुझे दुःखित न करे। वह प्रिय परमात्मा, तेरे शरीर पर,

---

(१) वरुण=राजा ?। (२) अश्वघाती को समाज से बाहिर निकाल देने का भी दण्ड होना चाहिये, अर्थात् उसे जातिबहिष्कृत या समाजबहिष्कृत कर देना चाहिये। (३) अश्वघाती को कुत्ता कहा है। (४) दिव् धातु से देव शब्द बना है। दिव् का अर्थ विजिगीषा भी है। अतः देव=जीतने की इच्छा रखने वाले। (५) प्रिय आत्मा=परमात्मा। (६) मिथृ हिंसायाम् ॥

किसी भी शस्त्र को स्थित न होने दे। लोभी अप्रशस्त मनुष्य शास्त्र-मर्यादा का उल्लंघन कर तेरे अङ्गों को सच्छिद्र न करे, अर्थात् काटे नहीं, और न तलवार द्वारा तेरी हिंसा ही करे।

इस प्रकार, अश्व के सम्बन्ध के ये मन्त्र, स्पष्ट कह रहे हैं कि अश्व की हिंसा न करो। अतः अश्वमेध का पौराणिक भाव, वेदों की दृष्टि में, सर्वथा अनुचित और असङ्गत है।

(१) शास्त्र की यह मर्यादा है कि, जो निरपराधी प्राणी की हिंसा करता है, वह शास्त्र-मर्यादा का उल्लंघन करता है।

छठा प्रकरण

पुरुषमेध

पौराणिक विद्वान्, पुरुषमेध की प्रामाणिकता में, यजुर्वेद के ३० वें और ३१ वें अध्याय को पेश किया करते हैं। निश्चय से, इन दो अध्यायों में पुरुषमेध का वर्णन है। परन्तु पुरुषमेध का पौराणिक भाव, इन अध्यायों के वास्तविक अभिप्राय से, सर्वथा विरुद्ध है। इन दो अध्यायों के भाव, संक्षेप से, आगे चल कर पाठकों के सम्मुख रक्खे जायंगे।

पौराणिक विधि

(क) पौराणिक विधि के अनुसार पुरुषमेध करने का अधिकार या तो ब्राह्मणों को है और या क्षत्रियों को। इस यज्ञ के करने का अधिकार वैश्य और शूद्र को नहीं।

(ख) इस विधि के अनुसार यज्ञमण्डप में ११ यूप (खम्भे) गाड़े जाते हैं। जिन में से प्रथम यूप के साथ ४८ मनुष्य, दूसरे के साथ ३७, और शेष ९ में से प्रत्येक के साथ ग्यारह २ मनुष्य बांधे जाते हैं। इस प्रकार पुरुषयज्ञ में यज्ञीय पुरुषों की संख्या १८४ होती है।

(ग) यूपों के साथ मनुष्यों के बांधने के पश्चात्, उन का जल द्वारा प्रोक्षण (सिञ्चन) किया जाता है।

(घ) प्रोक्षण के पश्चात उनका पर्यग्निकरण किया जाता है, अर्थात् उन के चारों ओर अग्नि घुमाई जाती है।

(ङ) तत्पश्चात, उन मनुष्य-पशुओं के अपने २ देवताओं के नाम पर, उन का, वाचनिक त्याग किया जाता है।

(च) पश्चात्, उन मनुष्यों को, यूपों से खोल कर छोड़ दिया जाता है[1]।

(छ) तत्पश्चात, पुरुष-यज्ञ का करने वाला मनुष्य वानप्रस्थ और संन्यास का अधिकारी बन जाता है।

शतपथ ब्राह्मण और पुरुषमेध

शतपथ ब्राह्मण, कां० १३, अ० ६, ब्रा० १, २ में पुरुषमेध का वर्णन है। इस ब्राह्मण भाग का यथार्थ अनुवाद, पाठकों के विचारार्थ, नीचे दिया जाता है। यथाः—

नारायण पुरुष ने कामना की कि मैं सब भूतों का मुखिया बनूं, मैं ही "यह सब" हो जाऊँ। उसने पांच रातों की यज्ञ-क्रिया को साक्षात् किया, जिसे पुरुषमेध कहते हैं। उसे लिया, उससे यज्ञ किया, उससे यज्ञ करके वह सब भूतों का मुखिया

---

(१) पुरुषमेध की इस पौराणिक विधि में पुरुषों का बध नहीं किया जाता, यह स्मरण रखना चाहिये।

बना और "यह सब" हो गया। जो इस प्रकार जानता, या इस प्रकार जानकर पुरुषमेध द्वारा यज्ञ करता है, वह सब भूतों का मुखिया हो जाता है, और "यह सब" हो जाता है ॥ १ ॥ उस यज्ञ की २३ दीक्षाएं हैं, १२ उपसद् हैं, ५ सुत्या (सोमदिन) हैं। अतः यह यज्ञ, दीक्षा और उपसद् सहित, ४० रातों का है। ४० अक्षरों का विराट् होता है, इससे विराट् को प्राप्त होता है, "ततो विराडजायत विराजोऽधिपूरुषः" यह ही विराट् है। इसी विराट् से यज्ञरूपी पुरुष को पैदा करता है ॥ २ ॥ ये ४० रातें चार दशत हैं, जो ये रातें चार दशत हैं ये इन्हीं लोकों और दिशाओं की प्राप्ति के लिये हैं। इसी लोक को प्रथम दशत से प्राप्त हुए, अन्तरिक्ष को द्वितीय से, दिव को तृतीय से, और दिशाओं को चतुर्थ से। उसी प्रकार यजमान इसी लोक को प्रथम दशत से प्राप्त होता है, अन्तरिक्ष को द्वितीय से, दिव को तृतीय से, और दिशाओं को चतुर्थ से। जितने ये लोक और दिशाएं हैं, निश्चय से, इतना "यह सब" (संसार) है, सब (संसार) पुरुषमेध है, सबकी प्राप्ति और सब के अवरोध के लिये ॥ ३ ॥ उपवसथ[२] में ११ अग्नि-षोमीय पशु हैं, उनका एक ही कर्म है। ११ यूप हैं, ११ अक्षरों वाला त्रिष्टुप् है, वज्र त्रिष्टुप् है, वीर्य त्रिष्टुप् है, वज्र और वीर्य द्वारा ही यजमान सम्मुखस्थ पाप को मारता है ॥ ४ ॥ सुत्याओं में ग्यारह २ के समुदाय में पशु होते हैं, ११ अक्षरों वाला त्रिष्टुप् है, वज्र त्रिष्टुप् है, वीर्य त्रिष्टुप् है, वज्र और वीर्य के साथ यजमान सम्मुखस्थ पाप को मारता है ॥ ५ ॥ जो ग्यारह २ के

(१) ब्राह्मणकार की दृष्टि में पुरुषमेध का वास्तविक स्वरूप।

(२) सोमयज्ञ से प्रथम का दिन।

ही सम्पदाय होते हैं, (यह क्यों ?)। एकादशिनी निश्चय से "यह सब" है, प्रजापति निश्चय से एकादशिनी है, सब निश्चय से प्रजापति है, सब पुरुषमेध है, सब की प्राप्ति के लिये, सब के अवरोध के लिये ॥ ६ ॥ निश्चय से यह पुरुषमेध पांच रात का यज्ञकर्म है। यज्ञ पांक्त है, पशु पांक्त है, पांच ऋतुएं एक वर्ष है। जो कुछ पंचविध है, चाहे वह आधिदैविक हो या आध्यात्मिक, यह, इस द्वारा, सब प्राप्त करता है ॥ ७ ॥ अग्निष्टोम उसका पहला दिन है। पश्चात् उक्थ्य, पश्चात् अतिरात्र, पश्चात् उक्थ्य, पश्चात् अग्निष्टोम। निश्चय से यह (यज्ञ) उभयतोज्योति तथा-उभयत उक्थ्य है ॥ ८ ॥ पंचरात्र यज्ञ जौं (यव) के मध्य-भाग के समान है। निश्चय से ये लोक पुरुषमेध है, ये लोक उभयतोज्योति हैं, इधर अग्निद्वारा और उधर आदित्य द्वारा। अतः यह उभयतोज्योति है। अन्न उक्थ्य है, और आत्मा अतिरात्र है। चूंकि ये दो उक्थ्य, अतिरात्र के दोनों ओर हैं, इसलिये यह आत्मा अन्न से परिवृढ है। और अतिरात्र जो उन सब में बड़ा है वह दिनों के मध्य में है। इसलिये यह यज्ञ जौं के मध्य-भाग के सदृश है। जो इस प्रकार जानता है वह द्वेषी शत्रु को दूर करता है। यह ही विद्यमान रहता है इसका द्वेषी नहीं, इस प्रकार वे कहते हैं ॥ ९ ॥ [1] यह ही लोक उसका प्रथम दिन है, इसका लोक यह वसन्तऋतु है; इस लोक से जो ऊपर और अन्तरिक्ष से नीचे है वह द्वितीय दिन है, इसका लोक वह ही ग्रीष्मऋतु है; अन्तरिक्ष ही इसका मध्यम दिन है, इसका लोक वर्षा और शरद्ऋतुएं हैं; जो अन्तरिक्ष से ऊपर और द्युलोक से नीचे है वह चतुर्थ दिन है, इसका लोक वह ही वसन्तऋतु

(१) यहां से पुरुषमेध के आधिदैविक स्वरूप का वर्णन आरंभ होता है।

है; द्युलोक ही इसका पांचवां दिन है, द्युलोक इसका शिशिर ऋतु है—यह "आधिदैविक" रूप है॥ १० ॥[1] अब आध्यात्मिक रूप का वर्णन है। प्रतिष्ठा (पांव) ही इसका प्रथम दिन है, प्रतिष्ठा इसका वसन्त ऋतु है; जो प्रतिष्ठा से ऊपर और मध्य-भाग से नीचे है वह द्वितीय दिन है, वही इसका ग्रीष्मऋतु है; मध्यभाग ही इसका मध्यम दिन है, मध्य इसका वर्षा और शरद्ऋतुएं हैं; जो मध्य से ऊपर और सिर से नीचे है वह चतुर्थ दिन है, वही इसका हेमन्त ऋतु है; सिर ही इसका पंचम दिन है, सिर इसका शिशिर ऋतु है; इस प्रकार ये लोक और संवत्सर तथा आत्मा पुरुषमेध को प्राप्त हो जाते हैं[2]। ये लोक निश्चय से सर्वरूप हैं, संवत्सर सर्वरूप है, आत्मा सर्वरूप है, पुरुषमेध सर्वरूप है, सर्व की प्राप्ति के लिये, सर्व के अव-रोध के लिये ॥ ११ ॥ अध्याय ६, ब्रा० १ ॥

अच्छा! इसे पुरुषमेध क्यों कहते हैं?। निश्चय से, ये लोक[3] पुर हैं, यह ही पुरुष है जो यह बह रहा है, वह इस पुर में शयन करता है इससे वह पुरुष है। इन लोकों में जो अन्न है वह इसका मेध अर्थात् अन्न है। चूंकि यह इसका अन्न अर्थात् मेध है इसी से पुरुषमेध है। और जो इसमें मेध्य पुरुषों का आलम्भन करता है, उससे ही पुरुषमेध है ॥ १ ॥ निश्चय से उनका मध्यम दिन में आलम्भन करता है, निश्चय से अन्त-रिक्ष मध्यम दिन है, अन्तरिक्ष ही निश्चय से सब भूतों का आयतन है। निश्चय से अन्न ये पशु हैं, उदर मध्यम दिन है,

(१) यहां से पुरुषमेध के आध्यात्मिक स्वरूप का वर्णन करते हैं।
(२) अर्थात् संसार, काल तथा मनुष्य पुरुषयज्ञरूप हैं।
(३) पुरुषमेध के यथार्थ स्वरूप का परिचय इन पंक्तियों में भी है।

इससे वह उदर में अन्न रखता है ॥ २ ॥ उनका दश २ कर के आलम्भन करता है, दश अक्षरों वाला विराट् है, विराट् ही कृत्स्न अन्न है, कृत्स्न अन्नाद्य के अवरोध के लिये ॥३॥ ग्यारह दशतों का आलम्भन करता है, ११ अक्षरों वाला त्रिष्टुप् है, वज्र त्रिष्टुप् है, वीर्य त्रिष्टुप् है, वज्र और वीर्य द्वारा ही यजमान मध्य में से पाप को मारता है ॥४॥ मध्यम यूप में ४८ का आलम्भन करता है, ४८ अक्षरों वाला जगती है, पशु जागत हैं, जगती द्वारा ही यह इसके लिये पशुओं का अवरोध करता है ॥ ५ ॥ इतर यूपों में ग्यारह २, ग्यारह अक्षरों वाला त्रिष्टुप् है, वज्र त्रिष्टुप् है, वीर्य त्रिष्टुप् है, वज्र और वीर्य द्वारा ही यजमान चारों ओर से पाप को मारता है ॥ ६ ॥ आठ उत्तमों (अन्तिमों ?) का आलम्भन करता है, आठ अक्षरों वाला गायत्री है, ब्रह्म गायत्री है, वह ब्रह्म को ही इस सब से उत्तम करता है, इससे कहते हैं कि ब्रह्म इस सब से उत्तम है ॥७॥ निश्चय से वे (आठ) प्राजापत्य हैं, निश्चय से ब्रह्म प्रजापति है, निश्चय से ब्राह्म भी प्रजापति है, इससे (वे) प्राजापत्य हैं ॥८॥ वह पशुओं को लाता हुआ या उन पर उपकार करता हुआ इन तीन सावित्र आहुतियों को देता है, "देव सवितः" 'तत्सवितुर्वरेण्यम्" "विश्वानि देव सवितः" इन मन्त्रों द्वारा। सविता को वह खुश करता है, वह खुश होकर इसके लिये इन पुरुषों को प्रेरित करता है, उस द्वारा प्रेरितों का वह आलम्भन करता है ॥ ९ ॥ ब्रह्म के लिये ब्राह्मण का आलम्भन करता है, निश्चय से ब्राह्मण ब्रह्म है, ब्रह्म द्वारा ही ब्रह्म की समृद्धि करता है; क्षत्र के लिये राजन्य का (आलम्भन करता है), राजन्य निश्चय से क्षत्र है, क्षत्र को ही क्षत्र से समृद्ध करता है; मरुतों के लिये वैश्य का (आलम्भन करता है), मरुत् निश्चय से विश हैं, विश को विश से समृद्ध करता

है; तप के लिये शूद्र का (आलम्भन करता है), शूद्र निश्चय से तप है, तप को तप द्वारा समृद्ध करता है। इस प्रकार इन देवताओं को अनुरूप पशुओं द्वारा समृद्ध करता है, वे समृद्ध होकर इसे सब कामनाओं से समृद्ध करते हैं ॥१०॥ घी से हवन करता है, निश्चय से घी तेज है, इसमें वह तेज द्वारा तेज को रखता है। घी द्वारा हवन करता है, निश्चय से घी देवों का प्रियधाम है, इन देवों को प्रियधाम से समृद्ध करता है, वे समृद्ध होकर इसे सब कामनाओं से समृद्ध करते हैं ॥ ११ ॥ नियुक्त पुरुषों के दक्षिण में बैठा हुआ ब्रह्मा "सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्" इस १६ ऋचाओं वाले सूक्त द्वारा नारायण पुरुष से उनकी स्तुति करता है। निश्चय से यह सब १६ कलाओं से युक्त है, पुरुषमेध सर्वरूप है, सब की प्राप्ति के लिये सब के अवरोध के लिये। "तू इस प्रकार का है, तू इस प्रकार का है" इस तरह वह इसकी स्तुति ही करता है, इसकी महिमा ही गाता है, और जैसा यह है वैसा ही उसको कहता है। सो पशु पर्यग्निकृत हुए, विना संज्ञपन के ॥ १२ ॥ तब इस को वाणी बोली कि हे पुरुष ! न[1] मार। यदि मारेगा तो पुरुष ही पुरुष को खायगा। अतः उनको पर्यग्निकृत करके ही छोड़

---

(१) इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि पुरुषमेध में पुरुष के बध का सर्वथा निषेध है। अतः इस अनुवाद में जहां २ आलम्भन शब्द आया है, वहां २ आलम्भन का अर्थ बध नहीं है —यह सुतरां सिद्ध है। आलम्भन का अर्थ यदि बध होता तो, आलम्भन की आज्ञा द्वारा, प्रथमतः ही जब पुरुषों का बध हो चुका, पुनः, इस स्थान पर उन के बध का निषेध सर्वथा भावशून्य और निरर्थक होता। अतः इस सन्दर्भ में आलम्भन का अर्थ बध नहीं है, यह निश्चित है।

दिया। उनके देवताओं को आहुतियां दीं। उन द्वारा उन देवताओं को प्रीत किया। प्रीत हुए देवताओं ने इसे सब कामनाओं द्वारा प्रीत किया॥ १३॥ घी से हवन करता है, निश्चय से घी तेज है, तेज द्वारा ही वह इसमें तेज स्थापित करता है॥ १४॥ ग्यारह २ के समुदाय वालों के साथ समाप्त करता है, ११ अक्षरों वाला त्रिष्टुप् है, वज्र त्रिष्टुप् है, वीर्य त्रिष्टुप् है, वज्र और वीर्य द्वारा यजमान मध्य में से पाप को मारता है॥ १५॥ समापनीय आहुति के पश्चात् ११ वन्ध्या वशा (गौ?) का आलम्भन[1] करता है जो कि मित्रवरुण, विश्वेदेव और बृहस्पति देवता वाली हैं, ताकि इन देवताओं को प्राप्त हो सके। जो वशा बृहस्पति देवता वाली हैं वे अन्त में होती हैं, चूँकि बृहस्पति निश्चय से ब्रह्म है, तो ब्रह्म में ही वह अन्ततः प्रतिष्ठित होता है॥१६॥ ये वशा ११ ही क्यों होती हैं?। ११ अक्षरों वाला त्रिष्टुप् है, वज्र त्रिष्टुप् है, वीर्य त्रिष्टुप् है, वज्र और वीर्य द्वारा यजमान मध्य में से पाप को मारता है। त्रैधातवी अन्तिम आहुति है, अभिप्राय पूर्व का सा ही है॥ १७॥ अब दक्षिणा के सम्बन्ध में (कहते हैं)। भूमि तथा ब्राह्मण के धन को छोड़ कर, राष्ट्र के मध्य में पुरुष सहित जो कुछ है उसका पूर्व भाग होता का, दक्षिण भाग ब्रह्मा का, पश्चिम भाग अध्वर्यु का, और उत्तर भाग उद्गाता का है। इस प्रकार होतृक लोग बांटे जाते हैं॥ १८॥ यदि ब्राह्मण यज्ञ करे तो वह अपना सर्वस्व दे दे, ताकि वह सर्व की प्राप्ति कर सके। ब्राह्मण सर्वरूप है, सर्वस्व सर्वरूप है, पुरुषमेध सर्वरूप है॥ १९॥ अब आत्मा में दोनों अग्नियों का आरोपण करके, उत्तर नारायण द्वारा

(१) यहां पर भी आलम्भन शब्द का अर्थ "बध" करने में कोई प्रमाण नहीं।

आदित्य का उपस्थान करके, अपेक्षास्वभाव से रहित होकर, वन चला जाय, वही मनुष्यों से एकान्त है। यदि वह ग्राम में रहना चाहे तो, अरणियों में दोनों अग्नियां को लेकर, उत्तर नारायण द्वारा ही आदित्य का उपस्थान कर, घर में रहे और शक्त्यनुसार यज्ञ करता रहे। निश्चय से यह (यज्ञ) सब के प्रति नहीं कहना चाहिये, क्योंकि पुरुषमेध सर्वरूप है, सब के प्रति ही सर्व का उपदेश न करना चाहिये, निश्चय से जो परिचित हो उसके प्रति इसका उपदेश करे, और जो विद्वान् हो, जो इसका प्यारा हो; परन्तु सब के प्रति नहीं ॥ २० ॥

अ० ६, ब्रा० २ ॥[1]

अनुवाद पर एक दृष्टि

शतपथ ब्राह्मण में, इस प्रकार, पुरुषमेध का जो वर्णन किया है, उससे पुरुषमेध की पौराणिक विधि के लगभग सभी अङ्ग स्पष्ट प्रकट हो रहे हैं। तो भी यहां, स्पष्टरूप से, यह जान लेना आवश्यक है, कि शतपथ ब्राह्मण तथा अन्य पौराणिक व्याख्याएं, पुरुषमेध में, पुरुष के बध के तो सर्वथा ही विरोधी हैं। इनमें से कोई भी यह आज्ञा नहीं देता, कि पुरुषमेध में पुरुष का बध कर, उसके मांस की आहुतियां यज्ञाग्नि में दो। अतः शत-

(१) मैंने कोशिश की है कि उद्धृत ब्राह्मण भाग का यहां अक्षरशः अनुवाद किया जाय और उसमें अपना कोई शब्द न मिलाया जाय। इसी लिये यह अनुवाद कुछ अस्पष्ट सा है। यह इसी लिये किया गया है ताकि हिन्दी में ब्राह्मणग्रन्थ का मैं असली रूप रख सकूं, ताकि पाठक अपनी बुद्धि द्वारा पुरुषमेध के यथार्थ स्वरूप जानने में समर्थ हो सकें।

पथ ब्राह्मण के पुरुषमेध के वर्णन में हिंसा का भाव सर्वथा ही नहीं है—यह अत्यन्त स्पष्ट है।

शतपथ ब्राह्मण के इस अनुवाद को यदि सूक्ष्म दृष्टि से पढ़ा जायगा तो प्रतीत होगा कि शतपथ ब्राह्मण, पुरुषमेध के आधिदैविक और आध्यात्मिक भावों की ओर ही विशेष संकेत कर रहा है। यज्ञस्थलीय पुरुषमेध की प्रक्रिया द्वारा पुरुषमेध के आधिदैविक और आध्यात्मिक रूपों को दर्शाना ही शतपथ ब्राह्मण के इस सन्दर्भ का अन्तिम लक्ष्य है। और ये आधिदैविक तथा आध्यात्मिक रूप ही पुरुषमेध के वास्तविक और यथार्थरूप हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों के पाठक को, थोड़े ही अध्ययन से, यह स्पष्टरूप में प्रतीत हो जाता है कि ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना का मुख्य उद्देश्य कर्मकांड का प्रतिपादन नहीं, अपितु प्रचलित कर्मकांड की विधियों के आधिदैविक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक रहस्यों का उद्घाटनमात्र ही है[1]। अतः शतपथ ब्राह्मण ने, केवलमात्र, प्रचलित रूढि के अनुसार ही, पुरुषमेध की कर्मकांडीय विधि का वर्णन किया प्रतीत होता है। शतपथ ब्राह्मण की, अपने समय में पुरुषमेध की प्रचलित रूढि के साथ वास्तविक सहमति प्रतीत नहीं होती। इसीलिये पुरुषमेध की प्रचलित रूढि का वर्णन करते २, जब उस रूढि

(१) इस सिद्धान्त के स्पष्टीकरण के लिये, देखो इसी पुस्तक के लेखक द्वारा लिखी हुई "ऋषि दयानन्द की वेदभाष्य शैली" नामक पुस्तक।

के अनुसार पुरुषों के बध का अवसर उपस्थित होने लगा, तब ब्राह्मणकार की आत्मा प्रचलित रूढि के विरुद्ध आवाज़ करती है और ब्राह्मणकार को इन शब्दों के लिखने में बलात्कार प्रेरित करती है कि—

"हे पुरुष ! न मार। यदि मारेगा तो पुरुष ही पुरुष को खायगा ।

इससे प्रतीत हो रहा है कि ब्राह्मणकार के समय में, सम्भवतः, पुरुषबध का प्रचलन रहा हो, परन्तु ब्राह्मणकार ने उस प्रचलित हिंसा व्यवहार को अवश्य रोका। ब्राह्मणकार की यही शैली, शतपथ ब्राह्मण में वर्णित, अन्य पशुयज्ञों में भी दिखाई पड़ती है। अर्थात् अन्य पशुयज्ञों के प्रकरणों में भी, ब्राह्मणकार ने, प्रथम तो प्रचलित रूढि का वर्णन किया है, और तत्पश्चात् यथा तथा उन यज्ञों के अहिंसामय स्वरूपों को दर्शाया है। ब्राह्मण ग्रन्थों के अध्ययन करने वाले को, अध्ययन के समय में, ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित प्रचलित रूढि और ब्राह्मणकार की निजू सम्मति के परस्पर भेद पर विशेष ध्यान देना चाहिये। तभी ब्राह्मण ग्रन्थों के सत्य रहस्यों का हमें परिज्ञान हो सकता है।

यजुर्वेद का ३० वां और ३१ वां अध्याय, तथा शतपथ ब्राह्मण का अनुवाद

ब्राह्मण ग्रन्थ वेदों की व्याख्यारूप हैं, इस में, सम्भवतः, सब का ऐकमत्य है। शतपथ ब्राह्मण यजुर्वेद की व्याख्या है। यजुर्वेद के ३० वें और ३१ वें अध्याय

में पुरुष अथवा पुरुषमेध या पुरुषयज्ञ का वर्णन है । पूर्व-लिखित शतपथ ब्राह्मण का अनुवाद इन्हीं दो अध्यायों की व्याख्या रूप है । शतपथ ब्राह्मण के पूर्व-लिखित अनुवाद में वर्णित, पुरुषमेध की याज्ञिक-विधि का उल्लेख, इन दो अध्यायों में कहीं भी नहीं मिलता । न तो इन अध्यायों में यूपों का, न उन यूपों के साथ पुरुषों के बांधने का, न उन्हें प्रोक्षित करने का, न पर्यग्निकृत करने का, और न उन्हें अन्त में छोड़ देने का ही वर्णन है । अतः हमें कहना पड़ेगा कि यजुर्वेद के ये दो अध्याय, पुरुषमेध की ब्राह्मणोक्त कर्मकाण्डीय विधि के बिल्कुल पोषक नहीं । प्रतीत यह होता है कि वैदिक-संहिता-काल और ब्राह्मणकाल के मध्यवर्ती काल में, कई दृष्टियों से, मनुष्यों में गिरावट अवश्य हुई थी । गिरावट के इसी समय में पशुयज्ञ के हिंसामय स्वरूप का भी प्रचार हुआ और उसे वेदों द्वारा प्रमाणित करने की भी कोशिश की गई । ब्राह्मणकार ने, पुरुषमेध में, उसी प्रचलित रूढि का वर्णन किया है । परन्तु ब्राह्मणकार की आत्मा उस प्रचलित रूढि के विरुद्ध अवश्य बोल उठी । और उसने आज्ञा दी कि पुरुषमेध की विधि में पुरुषों का बन्धन-प्रोक्षण आदि जो चाहो करलो, परन्तु उनका बध न करो । इसी "प्रचलित रूढि की कल्पना" के अनुसार, ब्राह्मण ग्रन्थों में न केवल ऐसे भी लेख मिलते हैं जिनका कि वेदों में गन्ध भी नहीं, प्रत्युत

ऐसे भी लेख मिलते हैं जिनका कि वेदों में स्पष्ट शब्दों में निषेध किया हुआ है, बल्कि ब्राह्मणग्रन्थों की रहस्यमयी भाषा में भी जिनका दबा हुआ और गुप्त निषेध मिलता है।

यजुर्वेद का ३० वां अध्याय

यजुर्वेद के ३० वें अध्याय में कुल २२ मन्त्र हैं, जिनमें से ५ से २२ तक के मन्त्रों में पुरुषों का वर्णन है। इन १८ मन्त्रों में केवल एक ही क्रिया है, जो कि २२ वें मन्त्र में है, और वह है "आलभते"। "आलभते" पद में की "लभ्" धातु का अर्थ है—"प्राप्त करना"। अतः "आलभते" का अर्थ है—प्राप्त करता है,[1] न कि बध करता है। इन मन्त्रों में, यूप

(१) संस्कृत साहित्य में "आलभते" पद का अर्थ बहुत विवादग्रस्त है। आलभते पद कई स्थानों में बध अर्थ में आता है, परन्तु, साथ ही, बध से भिन्न अर्थों में भी इस शब्द के प्रयोग के कम उदाहरण नहीं हैं। आलभते पद " प्राप्त करता है, स्पर्श करता है" इन अर्थों में भी प्रयुक्त होता है। जैसे "पारस्कर गृह्यसूत्रों" में उपनयन और विवाह प्रकरणों में "हृदयालम्भन" का विधान है। यहां हृदयालम्भन का अर्थ हृदय-स्पर्श ही है न कि हृदय का घात। इसी प्रकार "अक्षानृयद्बभ्रूनालभे॥ अर्थव० ७। १०६। ७॥ में पासों के आलम्भन का अभिप्राय उन्हें प्राप्त करने का ही है, न कि उनके घात का। इस तरह आलभते पद का अर्थ, संस्कृत साहित्य में, अवश्य विवाद पूर्ण है। परन्तु मेरे विचार में, यह पद, सम्भवतः, वैदिक साहित्य की दृष्टि से इतना विवादग्रस्त न होना चाहिये। वेदों में तो इस पद का अर्थ, इस के धात्वर्थ की दृष्टि से ही स्वीकार करना चाहिये। हां, गौण दृष्टि से, इस के धात्वर्थ में थोड़े से

शब्द कहीं नहीं, यूपों को गाड़ने की आज्ञा देने वाली क्रिया कोई नहीं, पुरुषबन्धन की बोधक क्रिया कोई नहीं, उनके प्रोक्षण की बोधक क्रिया कोई नहीं, उनके पर्यग्निकरण की बोधक क्रिया कोई नहीं, और अन्त में उन्हें छोड़ देने की बोधक क्रिया भी कोई नहीं। केवल "आलभते" यही एक क्रियावाची शब्द इन मन्त्रों में है। चूंकि, पुरुषमेध की कर्मकाण्डीय विधियों के बोधक पद इन मन्त्रों में नहीं हैं, अतः इन विधियों को वेदोक्त नहीं कहा जा सकता।

30 वें अध्याय में पुरुष के आधिभौतिक स्वरूप का वर्णन। अतः राष्ट्र-यज्ञ ही पुरुषमेध है।

इन मन्त्रों में १८४ पुरुषों की गणना तो अवश्य है, परन्तु वह गणना, पुरुषमेध की कर्मकाण्डीय दृष्टि से नहीं; अपितु राष्ट्रीय दृष्टि से है। अर्थात् इस ३० वें अध्याय में आधिभौतिक दृष्टि

अन्तर में भी आलभते पद का प्रयोग वेदों में अवश्य हुआ है। परन्तु बध अर्थ में इस पद के प्रयोग की, सम्भवतः, वेदों में कोई साक्षी नहीं। इस अन्तिम पक्ष में निम्नलिखित दो प्रमाण भी अवश्य विचारणीय हैं। १॥ निघण्टु वेदों का कोष है। इस के अ० २, ख० १६ में बध के अर्थ की वैदिक धातुओं को गिनाया है। उन में "आलभते" को नहीं गिनाया। अतः निरुक्तकार की दृष्टि में आलभते पद का अर्थ "बध करना" नहीं है, यह परिणाम इस से निकालता है। (२) इसी प्रकार श्रीमद्भागवत् स्कन्ध ११, अ० ५, श्लो० १३ में निम्नलिखित श्लोकार्ध मिलता है। "यद्घ्राणभक्षो विहितः सुरायाः तथा पशोरालभनं न

से पुरुष का वर्णन किया गया है। आधिभौतिक दृष्टि में चारों वर्णों के पुरुषों का समुदाय—"सङ्गठित समुदाय"—"एक-पुरुष" रूप है। इस समुदायपुरुष या राष्ट्रपुरुष के यथार्थ परिचय के लिये निम्नलिखित मन्त्र पर विशेष विचार करना चाहिये। यथाः—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥ यजु० अ० ३१, मं० ११॥

इस मन्त्र में कहा है कि ब्राह्मण मुख हैं, क्षत्रिय भुजाएं, वैश्य जंघायें और शूद्र पैर। केवल मुख, केवल भुजाएं, केवल जंघाएं या केवल पैर पुरुष नहीं। अपितु मुख, भुजाएं, जंघाएं और पैर "इनका समुदाय" पुरुष अवश्य है। वह समुदाय भी यदि असङ्गठित और क्रमरहित अवस्था में है तो उसे हम पुरुष नहीं कहेंगे। उस समुदाय को पुरुष तभी कहेंगे जब कि वह समुदाय एक विशेष प्रकार के क्रम में हो और एक विशेष प्रकार से सङ्गठित हो। राष्ट्र में मुख के स्थानापन्न ब्राह्मण हैं, भुजाओं के स्थानापन्न क्षत्रिय, जंघाओं के स्थानापन्न वैश्य और पैरों के स्थानापन्न शूद्र हैं। राष्ट्र में, ये चारों वर्ण, जब शरीर के मुख आदि अवयवों की तरह सुव्य-

हिंसा"॥ इसका अर्थ यह है कि जहां सुराभक्षण का विधान है वहां केवल सुरा के गन्ध लेने का ही तात्पर्य है, न कि उसके पान का और पशु के आलम्भन की विधि का अभिप्राय पशु की हिंसा करने का नहीं है।

वस्थित होजाते हैं तभी इन की पुरुष संज्ञा होती है। अव्यवस्थित या छिन्नभिन्न अवस्था में स्थित मनुष्यसमुदाय को, वैदिक परिभाषा में, पुरुष शब्द से नहीं पुकार सकते। आधिभौतिक दृष्टि में, यह सुव्यवस्थित तथा एकता के सूत्र में पिरोया हुआ,—ज्ञान, क्षात्र, व्यापार, व्यवसाय और मज़दूरी[1] इनका निदर्शक जनसमुदाय ही—"एक-पुरुष" रूप है। इसी पुरुष अर्थात् सुव्यवस्थित और पूर्ण राष्ट्र का वर्णन यजुर्वेद के ३० वें अध्याय में है। संक्षेप में, मैं यूँ भी कह सकता हूं कि, यजुर्वेद के ३० वें अध्याय में एक सुसङ्गठित, सुव्यवस्थित तथा अपने में पूर्ण राष्ट्र का चित्र खींचा गया है, और इस राष्ट्र को पुरुष शब्द से पुकारा गया है, जिस द्वारा राष्ट्र की व्यक्तियों में रहने वाली उच्चकोटि की एकता, सुव्यवस्था तथा अपने में पूर्णता के भाव द्योतित किये गये हैं।

अपने इस भाव को प्रमाणित करने के लिये, मैं, इस ३० वें अध्याय के मन्त्रों पर कुछ विचार करना आवश्यक समझता हूँ, जो कि निम्नलिखित प्रकार से है।

(क) इस अध्याय में कुल २२ मन्त्र हैं। प्रथम मन्त्र

---

(१) ब्राह्मण=ज्ञान और त्याग। क्षत्रिय=क्षात्रभाव। वैश्य=व्यापार। शूद्र=दस्तकारी तथा मज़दूरी। जिस राष्ट्र में ये चारों भाव हों और वे भी उचित गौणमुख्य रूप में हों, उस राष्ट्र की पुरुष संज्ञा होगी।

में "सविता[1]" नामक प्रेरक परमात्मा से प्रार्थना की गई है कि वह हमारे राष्ट्र-यज्ञ तथा राष्ट्र-यज्ञ के पति (राष्ट्रसभापति) को प्रेरित करे ताकि राष्ट्र में भग[2] की वृद्धि हो। साथ ही यह भी प्रार्थना की गई है कि वह प्रेरक परमात्मा हमारी बुद्धियों को पवित्र करे, और हमारी वाणियां को प्रिय बनावे।

दूसरा गायत्री मन्त्र है, इसमें राष्ट्र को यह उपदेश दिया गया है कि वह सदैव परमात्म-तेज का ध्यान करे।

तीसरे मन्त्र में वैयक्तिक तथा राष्ट्रीय दुष्कर्मों के त्याग तथा सुकर्मों के ग्रहण की प्रार्थना है।

(ख) चौथे मन्त्र में राजा अर्थात् राष्ट्र-सभापति का आह्वान (नियुक्ति) है। राष्ट्रपति में जिन २ गुणों का होना आवश्यक है, उन्हें भी संक्षेप से इस मन्त्र में दर्शाया है। यथाः—

विभक्तारम्ः—वह राष्ट्र में धन और अन्न का यथोचित विभाग कर सके। राष्ट्र में अमीरी और ग़रीबी की विषम समस्याओं के हल की ओर "विभक्तारम्" शब्द निर्देश कर रहा है।

(१) सविता शब्द षू धातु से बना है, जिसका अर्थ है प्रेरणा। संसार के प्रत्येक पदार्थ में स्थित परमात्मा उन पदार्थों में प्रेरणा कर रहा है। जड़ चेतन जगत् का एकमात्र प्रेरक वही है, अतः वह सविता है।

(२) भग=ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य। इन सब की वृद्धि राष्ट्र में होनी चाहिये।

सवितारम्:—उसमें शासन की शक्ति विद्यमान हो, तथा उसके देह में कान्ति हो।

नृचक्षसम्:—जो मनुष्यों (प्रजा) की देखभाल ठीक कर सके।

(ग) ५ से २१ तक के मन्त्रों में, भिन्न २ विद्याओं, कलाओं, पेशों, तथा अन्य आवश्यक राष्ट्रीय उद्योग धन्धों के जानने वाले मनुष्यों के, राष्ट्र में, संग्रह का वर्णन है। साथ ही, मध्य २ में, थोड़ा बहुत दण्डनीति का भी उपदेश है। पाठकों के सम्मुख, यहां, उपरिलिखित विद्याओं की एक संक्षिप्त सूची पेश की जाती है, जिसके अवलोकन से, पाठक स्वयं निर्णय कर सकेंगे कि यजुर्वेद के ३० वें अध्याय में जिस पुरुषमेध का वर्णन है वह राष्ट्रीय-पुरुषमेध है या कर्मकाण्डीय। यथाः—

"ब्रह्म (वेद, विद्या, परमात्मज्ञान) के लिये ब्राह्मण की प्राप्ति करे; क्षत्र (क्षतों से त्राण के लिये) राजन्य अर्थात् क्षत्रिय की प्राप्ति करे; मरुत् (ऐश्वर्य की वृद्धि) के लिये वैश्य की प्राप्ति करे; तप (मज़दूरी आदि परिश्रम के कामों) के लिये शूद्र की प्राप्ति करे॥ मन्त्र ५॥

(१) सविता शब्द षू और षु धातु से बना है, जिनका अर्थ है—प्रेरणा और कान्ति। यथा षू प्रेरणे और षु प्रसवैश्वर्ययोः।

(१) मरुत्=हिरण्य अर्थात् सुवर्ण, निघं० अ० १, खं० २।

राजा, नृत्त और गीत के जानने वालों का संग्रह करे। वह धर्म अर्थात् न्याय-व्यवस्था के लिये एक सभा (कमिटी) नियत करे और उस न्यायसभा के सभापति को स्वयमेव नियुक्त करे। वह रथ बनाने के काम में कुशल तथा अन्य तर्खानों का भी संग्रह करे॥ मन्त्र ६॥

राजा, लोहार, नाई, किसान, बाण धनुष और ज्या के बनाने वाले, रस्सी बनाने वाले तथा मणियों के काम में निपुण व्यक्तियों का संग्रह करे॥ मन्त्र ७॥

राजा, पवित्रता (sanitation) के लिये वैद्य का, वायु की शुद्धि के लिये चण्डाल का, प्रज्ञान (भविष्य की घटनाओं के ज्ञान) के लिये नक्षत्रविद्यानिपुण का, आरम्भिक शिक्षा की उन्नति के लिये प्रश्नी अर्थात् प्रश्नकर्त्ता (school inspecter) का, मध्यमाशिक्षा की उन्नति के लिये अभिप्रश्नी अर्थात् अच्छे प्रकार प्रश्नकर्त्ता (ऊंचे दर्जे का school inspecter) का, तथा मर्यादा स्थिर रखने के लिये जज्ज और वकील का संग्रह करे॥ मन्त्र १०॥

राजा, हस्तिपाल, अश्वपाल, गोपाल, अविपाल, अजपाल, वनपाल, गृहपाल, तथा सुराकार का संग्रह करे॥ मन्त्र ११॥

राजा, लक्कड़हारों, धोबी धोबिनों, तथा रङ्गरेज़ों (कपड़ों पर रङ्ग चढ़ाने वालों) का संग्रह करे॥ मन्त्र १२॥

राजा, अयस्तापों (लोहे की ढलाई के काम को जानने वाले), टूटी फूटी वस्तुओं की मरम्मत करने वालों, चर्म के सीने वालों, चर्म को नर्म करने वालों, सुनारों तथा बणियों का संग्रह करे ॥ मन्त्र १३–१७ ॥

राजा, ढोल, वीणा, शंख और तबले के बजाने में कुशलों, हाथों के बजाने वालों, तथा बांस पर नाचने वालों का संग्रह करे ॥ मन्त्र १६, २०, २१ ॥

राजा, प्रतिग्राम में एक २ ग्रामणी नियत करे, तथा गणकों का प्रबन्ध करे ॥ मन्त्र २ ॥

राजा, अपने राष्ट्र में भिन्न २ आकृति, कद और रङ्ग-रूप वालों का संग्रह करे ॥ मन्त्र २२ ॥

राजा, चोर को अन्धेरे मकान में बन्द करे । वह मृग के शिकारियों, कुत्तों द्वारा शिकार करने वालों, तथा गोघातकों को प्राण दण्ड दे[1] ॥ मन्त्र ५, ७, १८ ॥

इस प्रकार, मैंने, यजुर्वेद के ३० वें अध्याय के विषय का निर्देश संक्षेप से किया है । निष्पक्ष निर्णेता इस वर्णन को पढ़कर स्वयं विचार लें कि इस अध्याय में "राष्ट्र-पुरुष"[2]

---

(१) इन मन्त्रों में "नियुक्त करे, प्राप्त करे या संग्रह करे" आदि अर्थ आलभते पद के किये गये हैं ।

(२) पुरुष शब्द की व्युत्पत्ति है "पुरि शेते" । अर्थात् जो पुर

का वर्णन प्रतीत होता है या किन्हीं कर्मकाण्डीय पुरुषों का।

यजुर्वेद का ३१ वां अध्याय और पुरुषमेध

अब यजुर्वेद के ३१ वें अध्याय पर विचार करना शेष है। इस अध्याय में भी कर्मकाण्ड के पुरुष का वर्णन नहीं; अपितु, इसमें परमात्मारूपी पुरुष का वर्णन है, जो कि इस जगत् रूपी पुर (नगर) में शयन कर रहा अर्थात् भरपूर हो रहा है। इस अध्याय पर भी, संक्षेप से, विचार किया जाता है, ताकि इस अध्याय में वर्णित पुरुष के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान पाठकों को हो सके।

इस अध्याय में जिस पुरुष का वर्णन है उसके सम्बन्ध में निम्नलिखित विशेषण वहां मिलते हैं।

वह संसार में व्याप्त होकर संसार से बाहिर भी है॥ मन्त्र १॥ भूत, भविष्यत् तथा वर्त्तमान जगत् का वह रचयिता है॥ मन्त्र २॥ यह समग्र संसार उसकी महिमा मात्र है, वह तो इससे बहुत बड़ा है॥ मन्त्र ३॥ उसी से गौ आदि पशु पैदा हुए हैं॥ मन्त्र ६, ८॥ उसीसे चारों वेद पैदा हुए हैं॥ मन्त्र ७॥ चन्द्र, सूर्य, वायु और प्राण, अग्नि, अन्तरिक्ष, द्युलोक, भूमि, तथा दिशाएं—क्रम से—

(नगर) में रहे। चार वर्णों का समुदाय पुर अर्थात् नगर में रहता है, अतः उस समुदाय को पुरुष कहते हैं।

उसके मन, चक्षु, श्रोत्र, मुख, नाभि, शिर, पाद तथा श्रोत्र रूप हैं ॥ मन्त्र १२, १३ ॥

इन विशेषणों तथा वर्णनों से स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि, इस अध्याय में वर्णित पुरुष, केवल परमात्मा ही है, अन्य कोई नहीं।

पुरुषयज्ञ

इस अध्याय के १४ वें मन्त्र में पुरुष-यज्ञ यह शब्द भी पठित है। परन्तु इस मन्त्र में पुरुषयज्ञ का पौराणिक भाव सर्वथा असम्भव और असङ्गत है। इस मन्त्र का अर्थ है कि "देव लोगों ने जिस पुरुषरूपी हवि से यज्ञ किया, उसमें, वसन्त, ग्रीष्म तथा शरद् ऋतुएं ही, क्रम से, घी, इध्म तथा हवि रूप थीं।" इस अर्थ से स्पष्ट प्रतीत होरहा है कि वर्षभर की विविध रच-नाओं द्वारा, परमात्मा का बोध तथा ज्ञान प्राप्त करते रहना ही पुरुष-यज्ञ है।

पुरुषपशु का बांधना

इसी प्रकार इस अध्याय के १५ वें मंत्र में, इस पुरुष को पशु भी कहा है, और इस मंत्र में उसके बांधने का भी वर्णन है। यथाः—

(१) यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत। वसन्तोऽस्यासी-दाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः॥ इस मन्त्र में "पुरुषेण–यज्ञम्" इन शब्दों पर ध्यान देना चाहिये। "पुरुषेण यज्ञमिति पुरुषयज्ञम्" ऐसा विग्रह करना चाहिये।

सप्तास्यासन्परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन्पुरुषं पशुम् ॥

इस मन्त्र में "अबध्नन्, पुरुषम् और पशुम्" इन शब्दों पर ध्यान देना चाहिये। इन तीन शब्दों का अर्थ है कि (देवों ने) "पुरुष-पशु को बांधा"। अब विचार यह करना चाहिये कि यह पुरुष पशु कौन है ?। प्रकरण द्वारा तो, यह पुरुष पशु, परमात्मा ही प्रतीत होता है। इस १५ वें मन्त्र से पूर्व के तथा उत्तर के मन्त्रों में जिस पुरुष का वर्णन है, उसी पुरुष का, यहां "पुरुषपशु"[२] शब्द से वर्णन किया है। और निश्चय से वह परमात्मा ही है, न कि हमारे सदृश नाक कान वाला प्राणी। जब यह निश्चित हो गया कि इस पुरुष-पशु का अर्थ परमात्मा ही है, तब उसके बांधने का अभिप्राय है "उसे हृदयरूपी यज्ञस्थल में, चिंतन की रज्जु से दृढ़ बांधना" अर्थात् हृदय में भक्ति तथा श्रद्धा द्वारा परमात्मा

(१) इस मन्त्र में "पुरुष, पशु और बांधना" इन शब्दों को देखकर ही, सम्भवतः, पौराणिक विद्वानों ने "पुरुषरूपी पशु" को यूप के साथ बांधने की विधि निकाली हो। परन्तु स्मरण रखना चाहिये कि न तो इस मन्त्र में और न इस अध्याय में ही यूप शब्द पठित है। अतः उस पुरुष-पशु को कहां और किस के साथ बांधो यह प्रश्न विवादास्पद है।

(२) पशु शब्द दृश् धातु से बना है, जिससे पश्यति आदि रूप बनते हैं। अतः यहां पशु शब्द का अर्थ है—देखनेवाला, प्रत्यक्ष करने वाला या द्रष्टा। परमात्मा द्रष्टा है, अतः वह पशु है।

का ध्यान और विचार करना । ३१ वें अध्याय के पुरुषयज्ञ का यही स्वरूप है ।

३१ वें अध्याय की, ३२ वें अध्याय के साथ, सङ्गति

३१ वें अध्याय में "पुरुष पशु" शब्द से परमात्मा का ही ग्रहण करना चाहिये, न कि मरणधर्मा हमारे सदृश पुरुष का,—इसमें एक और भी दृढ़ प्रमाण है । वह है ३२ वें अध्याय की इस ३१ वें अध्याय के साथ सङ्गति । ३२ वें अध्याय में भी परमात्मा का ही वर्णन है । और ३२ वें अध्याय के आरम्भ का मंत्र निम्नलिखित है । यथाः—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः सः प्रजापतिः ॥ यजु० ३२ । १ ॥

इसका अर्थ यह है कि "वह ही अग्नि, वह आदित्य, वह वायु, वह ही चन्द्रमा, वह ही शुक्र, वह ब्रह्म, वह आपः, और वह प्रजापति है" ।

इस प्रकार ३२ वें अध्याय को "तत्" शब्द से प्रारम्भ किया है । साहित्य-शास्त्र का यह नियम है कि "तत्" आदि शब्द पूर्व वर्णित वस्तु के निर्देश करने वाले होते हैं । अतः यदि, इससे पूर्व के अध्याय, अर्थात् ३१ वें अध्याय में वर्णित पुरुष से परमात्मारूपी अर्थ लिया जाय, तब तो ३२ वें अध्याय के आरम्भ के मन्त्र का अभिप्राय भी यथार्थ हो जाता है कि "वह परमात्मा ही अग्नि, आदित्य, वायु और चन्द्रमा आदि

नामों से पुकारा जाता है"। और यदि हठ से, ३१ वें अध्याय में वर्णित पुरुष से, हमारे सदृश नाक कान वाले प्राणी का ग्रहण किया जायगा, तब मानना पड़ेगा कि ३२ वें अध्याय के आरम्भिक मन्त्र में प्रदर्शित "अग्नि, आदित्य" आदि नाम भी, मुख्यरूप से, हमारे सदृश पुरुष-प्राणी के ही हैं, जो कि वैदिक दृष्टि से सर्वथा असङ्गत और अयुक्त दिखाई देता है। अतः यजुर्वेद के ३१ वें अध्याय में भी, पौराणिक पुरुषमेध का गन्धमात्र भी नहीं, पाठकों को यह अवश्य ज्ञात हो गया होगा।

यजुर्वेद में पुरुषहत्या का निषेध

यजुर्वेद में पुरुषवध का निषेध भी किया गया है। यथाः—

इमं मा हिंसीर्द्विपादं पशुं सहस्राक्षो मेधाय चीयमानः। मयुं पशुं मेधमग्ने जुषस्व तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद मयुं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु॥ अ० १३। मं० ४७॥

इस मन्त्र में "इमं मा हिंसीर्द्विपादं पशुम्" इस वाक्य पर विशेष ध्यान देना चाहिये। इस वाक्य का अर्थ है कि "इस दो पैर वाले पशु की हिंसा न कर"। दो पैर वाले पशु से, यहां मनुष्य का ग्रहण है।

अथर्ववेद और पुरुषमेध

अथर्ववेद के, कां० ७, सू० ५ का, ४ थे मन्त्र इस सम्बन्ध में अवश्य विचारणीय है, जो कि निम्नलिखित है। यथा—

यत्पुरुषेण हविषा यज्ञं देवा अतन्वत ।
अस्ति नु तस्मादोजीयो यद्विहव्येनेजिरे ॥

अर्थ—पुरुष की हवि द्वारा यज्ञ करने से तो, निश्चय से, विना ही हवि के यज्ञ करना उत्तम है ।

सायणाचार्य और पुरुषमेध

इसी मन्त्र पर के सायणाचार्य के भाष्य में से निम्नलिखित लेख उद्धृत है, जो कि पुरुषमेध के सम्बन्ध में और भी प्रकाश डालता है । यथा—

दीव्यन्तीति देवा यजमानाः, पुरुषेण हविषा, यज्ञं पुरुषमेधाख्यं विस्तारितवन्तः । एवं पुरुषहविष्कयज्ञ इति यदस्ति, तस्मादोजीय अतिशयेनोजस्वि सारवदस्ति नु, विद्यते खलु, यद्विहव्येन विगतहविष्केण ज्ञानयज्ञेनेजिर इष्टवन्तः ॥

अर्थ—देव का अर्थ है यजमान । उन्होंने पुरुषरूपी हवि से जो यज्ञ किया, उससे तो विना ही हवि के किया गया यज्ञ उत्तम है ।

इस प्रकार ऊपर लिखित प्रमाण, इस बात में पूर्ण साक्षी हैं कि, पुरुषमेध का पौराणिक भाव वेद को कदापि अभीष्ट नहीं ।

इस प्रकरण में वर्णित पुरुषमेध के आधिभौतिक, राष्ट्रीय और आध्यात्मिक स्वरूपों पर विशेष ध्यान देना चाहिये ।

सातवां प्रकरण

अजमेध और अविमेध

अजमेध का पौराणिक अर्थ

अज का अर्थ है बकरा। अतः पौराणिक अर्थ में, बकरे के मांस की आहुति यज्ञाग्नि में देना "अज-मेध" कहाता है।

आलोचना

परन्तु "अज-मेध" का पौराणिक अर्थ, प्रमाणों द्वारा पुष्ट प्रतीत नहीं होता। यद्यपि संस्कृत साहित्य में, अज का अर्थ बकरा भी होता है, तो भी "अज-मेध" इस समस्त पद में, अज का अर्थ बकरा करना चाहिये या नहीं, यह अवश्य विचारणीय है।

महाभारत और अज शब्द का अर्थ

अजमेध के सम्बन्ध में, महाभारत शान्ति-पर्व के ३३७ वें अध्याय में, निम्नलिखित श्लोक मिलते हैं। यथा—

बीजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वै वैदिकी श्रुतिः।
अजसंज्ञानि बीजानि छागं नो हन्तुमर्हथ॥
नैष धर्मः सतां देवा यत्र बध्येत वै पशुः।
इदं कृतयुगं श्रेष्ठं कथं बध्येत वै पशुः॥

अर्थः—ऋषियों ने देवताओं को कहा कि हे देवलोगो ! यज्ञों में बीजों के द्वारा यज्ञ करे, यही वेद की श्रुति है। बीजों का नाम अज है, अतः यज्ञ में बकरा मारना उचित नहीं। हे देवो ! पशुबध करना सत्पुरुषों का धर्म नहीं। यह सत्ययुग तो सब से श्रेष्ठ है, इसलिये इसमें किस प्रकार पशुहिंसा हो सकती है[१]।

पञ्चतन्त्र और अज शब्द

पञ्चतन्त्र, तन्त्र ३, कथा २ में अज शब्द के सम्बन्ध में निम्नलिखित पंक्तियां मिलती हैं। यथा—

---

(१) इससे प्रतीत होता है कि वेद में जहां, अज की आहुति का वर्णन हो वहां बकरे के मांस की आहुति नहीं, अपितु बीजों की ही आहुति समझनी चाहिये।

(२) ऊपर के श्लोक ऋषियों और देवों के परस्पर संवाद के साथ सम्बन्ध रखते हैं। महाभारत में दर्शाया है कि देवों का मत यह था कि यज्ञ में "अज" शब्द से बकरा जानना चाहिये। इस पर ऋषि बोले कि तुम्हारा यह पक्ष सत्य नहीं। वेदों में बीज ही का नाम अज है, बकरे का नहीं। ऋषियों और देवों में जब इस प्रकार का विवाद चल रहा था, उसी समय राजा उपरिचर वसु वहां आ उपस्थित हुए। उनके सम्मुख भी यह प्रश्न रक्खा गया। यह जानने के बाद कि देवों का पक्ष यह है कि यज्ञ में बकरे का वध करना चाहिये, राजा उपरिचर वसु ने भी देवों की हां में हां मिलाई। इस असत्य पक्ष के पोषण का फल यह हुआ कि राजा उपरिचर वसु स्वर्ग से भ्रष्ट होकर पृथिवीतल में प्रविष्ट हुए। अतः इस कथा से यह अवश्य प्रतीत होता है कि ऋषियों और देवों के संवाद में ऋषियों का पक्ष ही सत्य था।

एतेऽपि ये याज्ञिका यज्ञकर्मणि पशून्व्यापादयन्ति ते मूर्खाः परमार्थं श्रुतेर्न जानन्ति । तत्र किलैतदुक्तमजैर्यष्टव्यमिति । अजा व्रीहयस्तावत्सप्तवार्षिकाः कथ्यन्ते न पुनः पशुविशेषाः ॥

अर्थः— जो याज्ञिक लोग यज्ञकर्म में पशुओं का घात करते हैं वे मूर्ख वेद के परम अर्थ को नहीं जानते । वेद में इतना ही कहा है कि अज द्वारा यज्ञ करना चाहिये । परन्तु अज शब्द का अर्थ है "सात वर्ष के पुराने धान" न कि पशु विशेष ।

इन प्रमाणों से यह प्रकट हो रहा है कि, अजमेध में, बकरे के मांस के द्वारा यज्ञ करने की परिपाटी सर्वथा अवैदिक है ।

अवि[२]मेध

अवि अर्थात् भेड़ के सम्बन्ध में वैदिक आज्ञा क्या है, अब इस पर विचार

(१) पञ्चतन्त्र के रचयिता के मत में "सात वर्ष के पुराने धान" का नाम अज है । "अज=अ+जन्" । सम्भवतः इस अर्थ में अज शब्द की प्रवृत्ति का कारण यह हो कि सात वर्ष के पुराने बीजों में अंकुर को पैदा करने की शक्ति ही न रहती हो । अज शब्द में "अ" का अर्थ है "न" और "ज" का अर्थ है "पैदा होना या पैदा करना" । अतः अज का अर्थ हुआ—जो कि नवीन अंकुर को पैदा नहीं कर सकते । सात वर्ष के पुराने बीजों में सम्भवतः जीवन-तत्त्व नहीं रहता । अतः इनके द्वारा यज्ञ करने में कोई हिंसा भी नहीं । नवोत्पन्न बीजों द्वारा यज्ञ करने में सम्भवतः हिंसा हो ।

(२) अवि का अर्थ है—भेड़ । अतः पौराणिक भाव में, अवि-

करना चाहिये। नीचे लिखे हुए प्रमाणों द्वारा यह स्पष्ट हो जायगा कि, अवि अर्थात् भेड़ की हिंसा, वेदादिसच्छास्त्रानुमोदित नहीं। यथाः—

(क) वरुत्रीं त्वष्टुर्वरुणस्य नाभिमविं जज्ञानां रजसः परस्तात्।
मर्ही साहस्रीमसुरस्य मायामग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन् १॥

इस मन्त्र का अर्थ कुछ अस्पष्ट सा है। तो भी इस मन्त्र के "अविं...मा हिंसीः परमे व्योमन्" इन शब्दों पर ध्यान देना चाहिये। इन शब्दों का अर्थ है कि "इस लोक में भेड़ की हिंसा न कर"।

(ख) इममूर्णायुं वरुणस्य नाभिं त्वचं पशूनां द्विपदां चतुष्पदाम्।
त्वष्टुः प्रजानां प्रथमं जनित्रमग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन् २॥

इसका अभिप्राय यह है कि तू इस ऊर्णायु अर्थात् ऊन देने वाली (भेड़) की हिंसा न कर, जिसकी कि ऊन हमारे शरीरों के ढांपने के काम में आती है, तथा जो सृष्टिकर्त्ता परमात्मा की सृष्टि में श्रेष्ठ या प्रथमोत्पन्न प्रजा है।

इन दो प्रमाणों की सत्ता में, हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि, वेद में जब भेड़ की हिंसा का सर्वथा निषेध है, तब अविमेध का हिंसामय पौराणिक भाव, वेद की दृष्टि में, कैसे सत्य हो सकता है।

मेध का अर्थ है वह यज्ञ, जिसमें कि भेड़ के मांस की आहुति दी जाय।

(१) यजु० १३। ४४॥ (२) यजु० १३। ५०॥

आठवां प्रकरण

पशुयज्ञ का सर्वथा निषेध

सामवेद और पशु-यज्ञ सामवेद, छन्द आर्चिक, अध्याय २, खं० ७ के २ तीय मन्त्र में, पशुयज्ञ का, स्पष्ट निषेध मिलता है। वह मन्त्र निम्नलिखित है। यथा—

नकि देवा इनीमसि[1] नक्या योपयामसि[2]।
मन्त्रश्रुत्यं चरामसि[3]॥

अर्थः—हे देवो! हम हिंसा नहीं करते, और न अन्यथानुष्ठान ही करते हैं। जो मन्त्र अर्थात् वेद में सुना है उसी का आचरण करते हैं।

इस मन्त्र में तीन निर्देश हैं। पहला यह कि हम देवों के लिये हिंसा नहीं करते, दूसरा यह कि हम उलटे कर्म अर्थात् वेदनिषिद्ध कर्म नहीं करते, तीसरा यह कि हम वही आचरण करते हैं जिसका कि वेद में श्रवण है।

---

(१) मीङ् हिंसायाम्॥ (२) युप विमोहने॥

(३) यह मन्त्र ऋग्वेद में भी पठित है। ऋग्, ८, ७, २२, ७॥

इन तीन निर्देशों में से पहला निर्देश बहुत आवश्यक और मुख्य है। इस निर्देश में "जाति, देश और काल का कोई भेद न करते हुए हिंसा का सर्वथा निषेध किया है"। तथा इस निर्देश में यह बात भी विचारणीय है कि, यह हिंसा का निषेध, देवों को सम्बोधित करके किया गया है। पशुयज्ञ में, मांसाहुति, देवों के नाम पर दी जाती है। परन्तु इस मन्त्र में कहा है कि हे देवो! हम तुम्हारे लिये हिंसा नहीं करते। जिसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि हम देवों के नाम पर यज्ञाग्नि में मांस की आहुति नहीं देते। अतः पहला निर्देश पशुयज्ञ का स्पष्ट निषेधक है।

दूसरे निर्देश में यह कहा है कि हम "वेदनिषिद्ध कर्मों को नहीं करते"। पशुहिंसा वेद निषिद्ध कर्म है। अतः इस निर्देश में भी, एक दृष्टि से, पशुहिंसा का निषेध किया है।

तीसरा निर्देश है कि "हम वेदश्रुत धर्म का ही आचरण करते हैं"। वेदों में कहीं भी पशुहिंसा का श्रवण नहीं। अतः, वक्ररूपेण, इस निर्देश द्वारा भी पशुयज्ञ का निषेध ही किया है।

सायणाचार्य की व्याख्या

इस मन्त्र की व्याख्या जो सायणाचार्य ने की है, वह भी अवश्य द्रष्टव्य है। क्योंकि उस व्याख्या में भी पशुहिंसा को सर्वथा निषिद्ध दर्शाया

है। वह निम्नलिखित है। यथा—

हे (देवाः) इन्द्रादयः! युष्मद्विषये (न कि इनीमसि) न किमपि हिंस्मः; (नकि) न च (योपयामसि) योपयामः, अननुष्ठानेन, अन्यथानुष्ठानेन वा मोहयामः। किंतर्हि?। (मन्त्रश्रुत्यम्) मन्त्रेण स्मार्यं, श्रुतौ विधिवाक्यप्रतिपाद्यं यद् युस्मद्विषयं कर्म, तत् (चरामसि) आचरामः अनुतिष्ठामः॥

अर्थः—हे इन्द्रादि देवताओ! आप के लिये हम किसी प्रकार की हिंसा नहीं करते, और सत्कर्मों के न करने या अन्यथा करने से कर्म-विघात भी नहीं करते। किन्तु आप के उद्देश से जो कर्म करने वेद में विहित हैं, उन्हीं कर्मों का हम अनुष्ठान करते हैं।

विवरणकार की सम्मति

पं० सत्यव्रत सामश्रमी, बङ्गाल के प्रसिद्ध वेदवेत्ता थे। आपने इस उपरि-लिखित मन्त्र के भिन्न २ शब्दों पर, विवरणकार की सम्मति के रूप में, जो २ टिप्पणियां लिखी हैं, वे बहुत उपयोगी और मार्मिक हैं। अतः वे नीचे लिखी जाती हैं। यथाः—

१—पहली टिप्पणी मन्त्र के "इनीमसि" पद पर है, जो कि निम्नलिखित है। यथा—

---

(१) ये टिप्पणियां, एशियाटिक सोसाइटी बङ्गाल द्वारा प्रकाशित, सामवेद सायणभाष्य के सम्पादन क्रम में, उपरिलिखित मन्त्र पर लिखी हैं।

"हे देवाः ! न हनीमसि, प्राणिवधं कर्म पश्वादियागं न कुर्मं इत्यर्थः" ॥ इति विवरणकार मतम् ॥

अर्थ- हे देवो ! हम "प्राणिबधरूपी कर्म" अर्थात् पशु-याग आदि नहीं करते । यह विवरणकार का मत है ।

२-दूसरी टिप्पणी मन्त्र के "योपयामसि' पद पर है, जो कि निम्नलिखित है । यथा—

"इह निखननार्थे द्रष्टव्यः, यूपनिखननमपि न कुर्मः, वृक्षौषध्यादिहिंसामपि न कुर्मः" ॥ इति विवरणकार मतम् ॥

अर्थः-मन्त्र में, "योपयामासि" शब्द की "युप् धातु" इस स्थान में, गाड़ने रूपी अर्थ में है । इसलिये अर्थ यह हुआ कि हम "यूप[1] को भी नहीं गाड़ते" । अर्थात् वृक्ष और ओषधि आदि की भी हम हिंसा नहीं करते । यह विवरणकार का मत है ।

३—तीसरी और चौथी टिप्पणियां मन्त्र में के **मन्त्र-श्रुत्यम्** तथा **चरामसि** पदों पर दी हैं, जो कि निम्नलिखित हैं । यथा—

"जपाख्यमिति । प्राणिवधं न कुर्मः, जपमेव कुर्म इत्यर्थः" ॥ इति विवरणकार मतम् ॥

अर्थः—मन्त्रों में जिनका विधिरूप में प्रतिपादन है,

(१) इस यूप के साथ यज्ञीय पशु को बांधा जाता है ।

ऐसे जप आदि कर्मों को ही हम करते हैं, और प्राणिवध आदि अविहित कर्मों को नहीं करते।

इस प्रकार ऊपर लिखा गया वेदमन्त्र, उस पर सायणाचार्य का भाष्य, और उस पर विवरणकार का मत, तथा उस विवरणकार के मत के साथ वेदाचार्य श्री पं० सत्यव्रत सामश्रमीजी की अनुमति—ये सभी प्रमाण इकट्ठे मिलकर इसी पक्ष का पोषण कर रहे हैं कि वेदों में पशुहिंसा या पशुयाग की यत्किञ्चित् भी विधि नहीं। अतः वेदों में "हिंसामय पशुयागों का वर्णन है" यह कथन, सर्वथा, कहनेवाले के वेद-विषयक महा-अज्ञान का सूचक है।

नववां प्रकरण

यजुर्वेद और पशुयज्ञ का रहस्य

यदि प्रश्न किया जाय कि वेदों में पशुयज्ञ का विधान है या नहीं ? तो इस प्रश्न का उत्तर न तो हां में ही हो सकता है और न नकार में। कारण यह कि वेद में, प्राणी से अतिरिक्त, पशु शब्द के और अप्रसिद्ध अर्थ भी हैं। यदि पशु शब्द द्वारा भेड़, बकरी आदि पशुओं का ग्रहण अभीष्ट हो, तब तो पशुयज्ञ का विधान वेदों में किसी प्रकार भी नहीं; और यदि पशु शब्द के, प्राणीभिन्न अन्य अर्थ भी सम्भावित हैं, तब सम्भव है कि वेदों में पशुयज्ञ का विधान भी हो।

पशुः=परमात्मा

पुरुषयज्ञ के प्रकरण में, इसी पुस्तक के पृ० ६७ में दर्शाया गया है कि यजुर्वेद के ३१ वें अध्याय में परमात्मा को भी पशु कहा है। परमात्मा पशु इसलिये है, चूंकि वह समग्र संसार को "पश्यति" अर्थात् साक्षात् करता है। वह समग्र संसार का द्रष्टा है, अतः वह पशु है। अतः परमात्मा का चिन्तन भी एक पशुयज्ञ है। ऐसे भावों में, वेदों में, पशुयज्ञ का विधान अवश्य है, और हिंसापूर्ण भावों में नहीं।

पशु=अग्नि, वायु और सूर्य

यजुर्वेद में पशु शब्द के और भी तीन अप्रसिद्ध अर्थ दिये हैं। वे हैं "अग्नि वायु और सूर्य"। अतः इन अर्थों की दृष्टि से पशुयज्ञ का अर्थ है "वह यज्ञ जिसका कि सम्पादन अग्नि, वायु और सूर्य द्वारा हो"। यजुर्वेद का वह मन्त्र, जिसमें कि अग्नि, वायु और सूर्य का वर्णन, पशु शब्द द्वारा है, निम्नलिखित है। यथा—

अग्निः पशुरासीत्तेनायजन्त, स एतं लोकमजयद्यस्मिन्नग्निः, स ते लोको भविष्यति, तं जेष्यसि, पिबैता अपः। वायुः पशुरासीत्तेनायजन्त, स एतं लोकमजयद्यस्मिन्वायुः, स ते लोको भविष्यति, तं जेष्यसि, पिबैता अपः। सूर्यः पशुरासीत्तेनायजन्त, स एतं लोकमजयद्यस्मिन्सूर्यः, स ते लोको भविष्यति, तं जेष्यसि, पिबैता अपः॥ अ० २३, मं० १७॥

इस मन्त्र के रेखाङ्कित भागों पर विशेष ध्यान देना चाहिये। वे भाग तीन हैं।

(१) अग्निः पशुरासीत्तेनायजन्त॥

अर्थ।—आग पशु था, उस द्वारा यज्ञ किया।

(२) वायुः पशुरासीत्तेनायजन्त॥

अर्थः—वायु पशु था, उस द्वारा यज्ञ किया।

(३) सूर्यः पशुरासीत्तेनायजन्त॥

अर्थः—सूर्य पशु था, उस द्वारा यज्ञ किया।

इस प्रकार, इस मन्त्र में, स्पष्ट और निर्भ्रान्त शब्दों में कहा है कि अग्नि वायु और सूर्य—पशु हैं, और इन पशुओं द्वारा यज्ञ किया भी गया। अतः, इन पशुओं द्वारा यज्ञ करना, वैदिक-परिभाषा में पशुयज्ञ है, और इस पशुयज्ञ का वेदों में विधान भी है।

वे यज्ञ जिनके सम्पादन में अग्नि, वायु और सूर्य का साक्षात् सम्बन्ध नहीं—अ-पशुयज्ञ कहलाते हैं। यथा—"अतिथियज्ञ, स्वाध्याययज्ञ, ब्रह्मयज्ञ" आदि।

अतः वेदों में पशुयज्ञ की विधि है या नहीं ?, इस प्रश्न का उत्तर, एक दृष्टि में, हां में भी है; और दूसरी दृष्टि में, न में भी। यदि पशुयज्ञ में के पशु शब्द का अर्थ "अग्नि, वायु, सूर्य और परमात्मा आदि" है तब तो उत्तर है हां में। और यदि इस पशु शब्द का अर्थ "भेड़, बकरी आदि जीवित प्राणी" है तब उत्तर है न में।

दसवां प्रकरण

ब्राह्मण ग्रन्थ और पशुयज्ञ का रहस्य

जिस प्रकार यजुर्वेद में पशुयज्ञ का एक विशेष रहस्य है, और उस दृष्टि से ही, वेदों में पशुयज्ञ का विधान भी है; इसी प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों में भी पशुयज्ञ का एक विशेष रहस्य है, और इस दृष्टि से ही, ब्राह्मणग्रन्थों में भी पशुयज्ञ का विधान है। इसका दिग्दर्शन निम्नलिखित रूप में है।

शतपथ ब्राह्मण और पशुयज्ञ[1]

शतपथब्राह्मण में, स्थान २ पर, पुरोडाश का वर्णन पशुरूप से किया है। यथा—

(क) पशु र्ह वा एष आलभ्यते यत्पुरोडाशः॥ १, २, ३, ५॥

अर्थः—निश्चय से, पुरोडाश ही पशु है।

शतपथब्राह्मण १, २, ३, ७; में भी निम्नलिखित लेख मिलता है। यथा—

---

(१) इस सम्बन्ध में, महाभारत शान्तिपर्व, अ० २६४ में भी, निम्नलिखित आधा श्लोक मिलता है। यथा—"पुरोडाशो हि सर्वेषां पशूनां मेध्य उच्यते"। अर्थात् सब पशुओं में से, पुरोडाश (चावल या जौ की पीठी) रूपी पशु को ही, मेध्य (अर्थात् यज्ञ के योग्य) कहा जाता है।

(ख) स यावद्वीर्यवद्ध वाऽस्यैते सर्वे पशवः आलब्धाः स्युस्ता-वद्वीर्यवद्धास्य हविरेव भवति, य एवमेतद्वेदाथो सा सम्पद्य-दाहुः पांक्तः पशुरिति ॥

अर्थः—सब पशुओं के आलम्भन से जितना फल है, उतना ही फल, निश्चय करके, हवि (व्रीहि और यव) से होता है। पांचों[1] पशुओं की श्री इसी हवि में विद्यमान है।

आगे चलकर, इसी प्रकरण में, शतपथब्राह्मण में पुरोडाश का पशुरूप से वर्णन और भी स्पष्ट शब्दों में किया है। यथा—

(ग) यदा पिष्टान्यथ लोमानि भवन्ति; यदाप आनयत्यथ त्वग्भवति; यदा संयौत्यथ मांसं भवति, सन्तत इव हि स तर्हि भवति, सन्ततमिव हि मांसम्; यदा शृतोऽथास्थि भवति, दारुण इव हि स तर्हि भवति, दारुणमित्यस्थि; अथ यदुद्वास-यिष्यन्नभिघारयति तं मज्जानं दधात्येषो सा सम्पद्यदाहुः पांक्तः पशुरिति ॥ १, २, ३, ८ ॥

अर्थः—व्रीहि[2] और यव[3] की पीठी के दाने लोम रूप हैं; पानी डालने से इस पीठी पर जो पिप्पड़ी बन जाती है वह त्वचा रूप है; जल और पीठी के मिलाने पर पीठी मांसरूप है, चूँकि जल के मिलाने पर वह पीठी फैल सी जाती है,

---

(१) पांच पशु=गौ, अश्व, पुरुष, अज, और अवि।

(२) व्रीहि=धान, अर्थात् छिलके सहित तण्डुल। (३) यव=जौ।

और मांस भी फैला हुआ ही होता है; जब पीठी पकाई जाती है तब वह अस्थि (हड्डी) रूप है, उस समय वह कठोर हो जाती है, और अस्थि भी कठोर ही होती है; जब पीठी को अङ्गारों पर से उतार कर उस पर घी डालते हैं तब अ-स्थिरूप-पीठी में मज्जा पैदा होती है। इस प्रकार इसी पीठी में पांचों पशुओं की श्री है।

शतपथ ब्राह्मण के इन उद्धरणों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि, शतपथ ब्राह्मण के मत में, चावल और जौ, अथवा चावल या जौ की पीठी ही पशु है। अतएव पशु-यज्ञ में इसी पीठी द्वारा यज्ञ करना चाहिये, न कि प्राणिपशु के मांस द्वारा। ऊपर के उद्धरणों से यह भी स्पष्ट है कि धान और जौ में ही पांचों पशुओं की सम्पत् विद्यमान है। इस कथन द्वारा ब्राह्मणकार ने पांच पशुओं द्वारा यज्ञ करने का निषेध किया है, और यजमान की श्रद्धा को पुरोडाशपशु या पिष्टपशु (पीठी-पशु) द्वारा यज्ञ करने की ओर प्रेरित किया है। अतः ब्राह्मण-ग्रन्थों का स्वाध्याय करते समय इस पिष्ट-पशु की परिभाषा को भूलना न चाहिये।

२ ऐतरेय ब्राह्मण और पशुयज्ञ

इसी प्रकार, इस सम्बन्ध में, ऐतरेय ब्राह्मण के भी कतिपय उद्धरण उपस्थित करता हूं, ताकि पशुयज्ञ के अहिंसामय

स्वरूप का यथार्थ ज्ञान पाठकों को हो सके। वे उद्धरण निम्नलिखित हैं। यथा—

(क) पुरुषं वै देवाः पशुमालभन्त, तस्मादालब्धान्मेध उदक्रामत्। ते अश्वमालभन्त,सोऽश्वादालब्धादुदक्रामत्। ते गामालभन्त, स गोरालब्धादुदक्रामत्। तेऽविमालभन्त, सोऽवेरालब्धादुदक्रामत्। तेऽजमालभन्त, सोऽजादालब्धादुदक्रामत्। स इमां प्राविशत्। त एत उत्क्रान्तमेधा अमेध्याः पशवस्तस्मादेतेषां नाश्नीयात्। सः व्रीहिरभवत्॥ पं० २, अ० १, खं० ८॥

अर्थः—देवों ने पुरुष पशु को (यज्ञार्थ ?) प्राप्त किया, उसे प्राप्त करते ही उससे मेध (यज्ञीय भाग) निकल गया। उन्होंने अश्व को प्राप्त किया, उसे प्राप्त करते ही उससे मेध निकल गया। उन्होंने गौ को प्राप्त किया, उसे प्राप्त करके ही उससे मेध निकल गया। उन्होंने भेड़ को प्राप्त किया, उसे प्राप्त करते ही उससे मेध निकल गया। उन्होंने बकरे को प्राप्त किया, उसे प्राप्त करते ही उससे मेध निकल गया। वह मेध इस भूमि में प्रविष्ट हो गया। चूँकि उन पशुओं में से मेध (यज्ञीय भाग) निकल चुका है, अतः ये पशु अमेध्य (अयज्ञीय) हैं, अतः उन्हें न खावें। पृथिवी में प्रविष्ट हुआ मेध व्रीही (धान) रूप होगया।

इस सन्दर्भ से तीन परिणाम सूचित होते हैं। यथा—

(अ) सम्भवतः किसी समय में पुरुष, अश्व, गौ, भेड़, और बकरी का हवि रूप से प्रयोग होता था।

(इ) परन्तु शनैः २ वह प्रयोग हटता गया।

(उ) और ब्राह्मणकाल से पूर्व ही वह प्रयोग प्रायः हट चुका था, और उसका स्थान व्रीहि ने ले लिया था (१)।

(ख) स वा एष पशुरेवालभ्यते यत्पुरोडाशः। तस्य यानि किंशारूणि तानि रोमाणि, ये तुषाः सा त्वक्, ये फलीकरणास्तदसृक्, यत्पिष्टं किक्नसास्तन्मांसम्, यत्किञ्चित्कं सारं तदस्थि। सर्वेषां वा एष पशूनां मेधेन यजते यः पुरोडाशेन यजते। तस्मादाहुः पुरोडाशसत्रं लोक्यमिति॥ पं० २, अ० १, खं० ८॥

अर्थः—वास्तव में, पुरोडाश की प्राप्ति ही पशु की प्राप्ति है। इस व्रीहि (धान) के ऊपर जो बाल से होते हैं, वे रोम हैं; जो छिलके हैं वह त्वचा है; तण्डुलों को श्वेत करने के लिये, अवघात द्वारा,

(१) वेदों में तो हिंसामय पशुयज्ञ का विधान है ही नहीं, यह पूर्व प्रकरणों में दर्शा दिया है। और ब्राह्मण ग्रन्थों की सम्मति भी इन हिंसामय पशुयज्ञों के विरुद्ध ही है। अतः सम्भवतः, वेद और ब्राह्मणकाल के मध्य में, एक ऐसा काल आया हो, जिसमें कि प्राणीहिंसा द्वारा यज्ञ करने की परिपाटी प्रचलित हुई हो। परन्तु ब्राह्मणग्रन्थों के काल में वह परिपाटी लगभग उच्छिन्न हो चुकी थी, जिसके उच्छेद में ब्राह्मणग्रन्थों का पर्याप्त हाथ है। अतः, ब्राह्मणग्रन्थों की सम्मति, रहस्य की दृष्टि से, उन हिंसामय पशुयज्ञों के सर्वथा विरोध में है।

उन तण्डुलों पर से जो अंश पृथक् किया जाता है वह रुधिर है; तण्डुलों की पीठी और उसके अवयव मांस है; धान का वह भाग जो कि कठिन है, अस्थि है। अतः जो पुरोडाश (पीठी) द्वारा यज्ञ करता है, वह सम्पूर्ण पशुओं के पवित्र भाग द्वारा यज्ञ करता है। इसी लिये कहते हैं कि पुरोडाश यज्ञ दर्शनीय या लोकसम्मत है।

इस सन्दर्भ में भी पुरोडाश का वर्णन पशुरूप से किया है। अतः ब्राह्मणग्रन्थों में, और सम्भवतः वेदों में भी, जहां कहीं भी, पशु या उसके अवयवों अथवा उसकी वपा द्वारा यज्ञ करने का वर्णन मिले, वहां धान, जौ और इन की पीठी के भिन्न २ अवयवों से मतलब है—यह निश्चितरूप से जानना चाहिये। इसलिये ब्राह्मणग्रन्थों के अनुसार व्रीहियवयज्ञ ही पशुयज्ञ है।

(ग) तदाहुर्यदेष हविरेव यत्पशुः........। पशुभ्यो वै मेधा उदक्रामन्, तौ व्रीहिश्चैव यवश्च भूतावजायेताम्। तद्य-त्पशौ पुरोडाशमनु निर्वपन्ति समेधेन नः पशुनेष्टमस-त्केवलेन नः पशुनेष्टमसदिति समेधेन हास्य पशुनेष्टं भवति, केवलेन हास्य पशुनेष्टं भवति य एवं वेद॥ पं० २, अ० २, ब्रा० १, खं० ११॥

---

(१) छिलके से पृथक् हुए तण्डुल, रङ्ग में, कुछ लाल होते हैं। अवघात द्वारा यह लालिमा दूर की जाती है। इस लालिमांश को रुधिर से रूपित किया है।

अर्थः-कहते हैं कि यह हवि ही पशु है। पशुओं से यज्ञीय भाग निकल गया। वह धान और जौ के रूप में पैदा हुआ। अतः पशुयज्ञ में पुरोडाश (धान और जौ) का प्रयोग करते हैं। इस यज्ञीय पुरोडाश-पशु के द्वारा हमारा इष्ट सिद्ध होता है। केवल इसी यज्ञीय पुरोडाश-पशु द्वारा हमारा इष्ट सिद्ध होता है। जो इस सिद्धान्त को जानता है उसका इष्ट भी इसी यज्ञीय पुरोडाश-पशु द्वारा ही सिद्ध होता है।

ऐतरेय ब्राह्मण का यह सन्दर्भ भी पुरोडाश-पशु (पिष्टपशु) की कल्पना को सब प्रकार से परिपुष्ट कर रहा है।

(३) यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता का निम्नलिखित लेख भी, पशुयज्ञ के सम्बन्ध में पर्याप्त प्रकाश डालता है। यथा-

दधि मधु घृतमापो धाना भवन्त्येतद्वै पशूनां रूपम्। रूपेणैव पशूनवरुन्धे ॥ कां० २, प्र० ३, अनु० २, खं० ८ ॥

अर्थः—दही, मधु, घी, जल (दूध?), भुने हुए जौ—ये, निश्चय से, पशुओं के रूप हैं, इन रूपों के द्वारा ही पशुओं का अवरोध करता हूं[1]।

इस उद्धरण में स्पष्ट कहा है कि पशुओं का रूप अर्थात्

(१) अर्थात् मैं साक्षात् पशुओं द्वारा यज्ञ नहीं करता, अपितु, पशुओं के इन रूपों द्वारा ही यज्ञ करता हूँ। इन रूपों का ग्रहण करना ही पशुओं का ग्रहण करना है।

स्वरूप है—दही, घी आदि । दही, घी आदि का ग्रहण ही पशुओं का ग्रहण है । इन द्वारा यज्ञ करना ही पशुयज्ञ है ।

अतः ब्राह्मणों के उपरिलिखित उद्धरण, सम्मिलित रूप में, प्राणिपशुओं के मांस द्वारा पशुयज्ञ करने के सर्वथा विरोधी प्रतीत होते हैं । इसलिये हिंसामय पशुयज्ञ ब्राह्मणों की रहस्यमयी भाषा के अनुकूल नहीं हैं ।

ग्यारहवां प्रकरण

महर्षि गार्ग्यायण और पशुयज्ञ का रहस्य

महर्षि गार्ग्यायण का परिचय

महर्षि गार्ग्यायण के नाम से एक पुस्तक जिसका नाम "प्रणववाद" है, सन् १९१५ में, ब्रह्मवादिन प्रेस मद्रास में, श्री पण्डित के. टी. श्री निवासाचार्य द्वारा प्रकाशित हुई थी। वैदिक साहित्य में यह एक अपूर्व पुस्तक है। यह अपने ढङ्ग के नूतन और मौलिक विचाररत्नों का एक बहुमूल्य खज़ाना है। इस पुस्तक में पशुमेध अर्थात् पशुयज्ञों का भी वर्णन है। यतः संस्कृत साहित्य के प्रेमी इस पुस्तक से अधिकतर अपरिचित ही हैं, अतः उन के परिचय के लिये, इस पुस्तक के पशुमेध सम्बन्धी प्रकरण का संस्कृतभाग प्रथम लिखा जायगा और तत्पश्चात् उसका हिन्दी अनुवाद किया जायगा। नीचे के सब उद्धरण, इस पुस्तक के तीसरे प्रकरण के छठे तरङ्ग के हैं। यथाः—

पञ्चमेध

गोमेधश्चाश्वमेधश्च नरमेधस्तथाऽपरः।
अजस्य माहिषस्यापि मेधाः पञ्च प्रकीर्तिताः॥

अर्थः—गोमेध, अश्वमेध, नरमेध, अजमेध तथा महिषमेध—ये पाँच मेध कहे गये हैं।

गोमेध गोमेधस्तावच्छब्दमेध इत्यवगम्यते। गां वाणीं मेधया संयोजनमिति तदर्थात्। शब्दशास्त्रज्ञानमात्रस्य सर्वेभ्यः प्रदानमेव गोमेधो यज्ञः। तद्धवनं च शाब्दिकसन्निधानपदार्थानामेवेति विज्ञेयम्।

अर्थः—गोमेध का अर्थ है "शब्दमेध"। गौ का अर्थ है "वाणी" और मेधा का अर्थ है "बुद्धि"। अतः गोमेध का अर्थ हुआ—"वाणी का बुद्धि के साथ संयोजन"। सब को शब्दशास्त्र का ज्ञान देना—यही "गोमेध" है।

अश्वमेध अश्वो हि ज्ञानम्, अश्यते सर्वाणि भूतान्यनेनेति तदर्थात्। मेधा तावत् ज्ञानक्रिया भवति। अश्वस्य मेध इति व्युत्पत्तिमङ्गीकृत्य सर्वमिदमकारात्मकं ज्ञानकरणमिति ह्यश्वमेधक्रिया भवति। अत एवाश्वानां पदार्थानां हवनमपि प्रयुज्यते। अश्वस्तावज्ज्ञानजन्यः पदार्थः, तेषां हवनं चैतद्ब्रह्माग्नौ सम्प्रदानमेव, इति हि तदर्थः।

अर्थ—अश्व का अर्थ है "ज्ञान" और मेधा का अर्थ है "ज्ञान क्रिया"। "सब संसार को ब्रह्मरूप जानना" यही अश्वमेध का करना है। इसलिये अश्व अर्थात् पदार्थों का हवन भी युक्त

---

(१) गौ=वाणी, निघं० अ० १, खं० ११॥

होता है। क्योंकि अश्व का अर्थ है—"ज्ञेय पदार्थ"। उन्हें ब्रह्माग्नि में डालना या ब्रह्मार्पित करना यह ही अश्व का हवन है १।

अतएव

ज्ञात्वा ब्रह्म यथायोग्यं यच्चान्येभ्यश्च दापनम् !
अश्वमेधः परो यज्ञः सर्वमुक्तिप्रदायकः ॥

इत्यादि प्रवचनम्। एवम् "ब्रह्मदो हि ब्रह्मसराष्ट्रतां याति" इत्यपि च। अत्र हि ब्रह्मदानं ज्ञानप्रदानमेवेति, सम्भवात्। तदेवमश्वमेधाख्यं कर्म यावज्ज्ञानबद्धं तावन्मोक्षप्रदमेवेति फलितं भवति।

अर्थः—इसीलिये "ब्रह्म को यथायोग्य जानकर, उसका अन्यों के प्रति दान करना, यही अश्वमेध है, जो कि उत्कृष्ट यज्ञ है, तथा मुक्ति का देने वाला है"—इस प्रकार का उपदेश है। इसी प्रकार और भी उपदेश है कि "ब्रह्म का दाता ब्रह्म के सदृश हो जाता है"। यहां ब्रह्मदान का अर्थ है "ज्ञान का दान", चूँकि यही अर्थ यहां सम्भव है। इस प्रकार ज्ञान-सम्बन्धी अश्वमेध मोक्ष का देने वाला है यह फलित हुआ।

अश्वमेधश्च सर्वज्ञानोपलक्षकः, अन्यपरः, सर्वार्थो भवति। सर्वं स्वात्मानं मत्वा चेति तदाशयो विज्ञेयः।

[अर्थ]—सब ज्ञानों को प्राप्त करना "अश्वमेध" है। इस

(१) अर्थात्, परमात्मा के उद्देश्य से, उन पदार्थों का, सर्वभूतों के प्रति, दान।

यज्ञ में, आत्मा और अनात्मा उभयरूप जगत् का ज्ञान प्राप्त करना होता है, और उस द्वारा अन्यों की भलाई करनी होती है।

दृश्यतामिह लोके ये च नास्तिका भवन्ति, तैश्च सर्वं जगद्-नीश्वरमनात्मात्मकमिति च मन्यते। "यदस्ति तदस्त्येव नासीन्न भविष्यति" इति प्रवचनात्।

अत्रैवमुच्यते। ते चास्तित्त्वे स्वसम्मतिप्रदाने प्रवृत्ता भवन्ति। यदि चेदिदं जगत्स्वतः सिद्धं निष्प्रयोजनं तर्हि किं सर्वस्य प्रयोजनं भविष्यति। ते नास्तिका अपि मत्वा स्वात्मानमेव तादृशं किमपि नाचरन्ति। सर्वसम्बन्धे तु तेषामपि माननीयत्वेन वरं भवति। अन्यथेहोपदेशस्य फलं निरर्थकमेव भवेत्। तस्मादश्वमेधः सर्वथा कर्त्तव्य एवेत्युपदेशः। अयत्नतोऽपि तादृशाश्वमेधश्चावश्यकतया भवत्येवेति विज्ञेयम्।

अर्थः—देखो! इस जगत् में जो नास्तिक हैं, जो कि सब जगत् को ईश्वर और जीवात्मा से शून्य मानते हैं, और जिनका यह सिद्धान्त है कि "जो है वह है ही, न उसका आदि हुआ, और न अन्त होगा", वे भी जगत् को स्वतः-सिद्ध और उद्देश्यप्रयोजनरहित सिद्ध करने के लिये अपनी सम्मति देने में प्रवृत्त होते हैं। यदि यह जगत् स्वतःसिद्ध और उद्देश्यप्रयोजनरहित है, तो "जगत् की सभी वस्तुएं उद्देश्यप्रयोजनरहित हैं" ऐसा मानना पड़ेगा। तब तो नास्तिकों का स्व-स्वरूप भी उद्देश्यप्रयोजनरहित मानना होगा।

ऐसा मानते हुए भी वे अपने सिद्धान्त के अनुकूल आचरण नहीं करते, और दूसरों के प्रति युक्ति-उपदेश करते हैं। युक्ति-उपदेश करना और जगत् की सब वस्तुओं को स्वतःसिद्ध और निष्प्रयोजन मानना, परस्पर विरुद्ध है। इसलिये, वस्तुओं में परस्पर सम्बन्ध, और अतएव उनकी सप्रयोजनता, नास्तिकों को भी अवश्य माननी होगी। अन्यथा, उनका सम्मति-प्रदान, वादविवाद और उपदेश सभी निरर्थक हो जायगा। इसलिये अश्वमेध सर्वदा और सर्वथा करना ही चाहिये। विना यत्न के भी, इस प्रकार का अश्वमेध, आवश्यकता द्वारा वाधित होकर, सब से ही हो रहा है, यह जानना चाहिये।

यज्ञश्चैषः सर्वदा राजभिः कर्त्तव्य एव भवतीति सर्वत्रोक्तं भवति। राजानस्तावद्धर्मपालका भवन्ति। एतद्धर्मपालकतया राज्ञामयमावश्यकः। यथा महाविष्णोरूपस्थितः सर्वाश्रयोऽयं संसारः, तथा राज्ञः प्रजानां च सम्बन्धः। सर्वार्थधर्मप्रदानं शिक्षाकरणं राज्ञामेव समुचितं विहितं च भवति। तस्मादयमश्वमेधयज्ञः राज्ञामवश्यं कार्यो भवति।

अर्थः—यह अश्वमेध यज्ञ सर्वदा राजाओं को करना चाहिये १। राजा धर्म के पालक होते हैं। धर्म के पालक होने से, अश्वमेध, राजाओं के लिये आवश्यक है। जैसे परमात्मा के स्वरूप में सब संसार स्थित है, वैसे ही राजा में प्रजा

(१) अश्वमेध यज्ञ करना राजाओं का धर्म है, इसका उपपादन आश्वलायन ऋषि करते हैं।

स्थित है। सभी प्रजा धर्मपरायण हो सके, इसके लिये, शिक्षा का प्रबन्ध करना चाहिये। और इस शिक्षा का व्यापक प्रबंध करना राजाओं ही के लिये उचित है और विहित है। इस लिये यह अश्वमेध यज्ञ राजाओं का आवश्यक कार्य्य है।

नरमेध

नरमेधश्चेच्छापरस्तयोः सम्बन्धरूपो बोध्यः। नर इति सर्वाश्रयभूतस्यैव संज्ञा। सर्वाश्रयं सर्वमित्येतद्बोधमात्रं तद्देवेति विज्ञेयम्।

अर्थः—सब संसार का आश्रयरूप जो परमात्मा है उसे नर कहते हैं। "यह सब कुच्छ" सर्व अर्थात् परमात्मा के ही आश्रय में है—इस प्रकार का बोध ही नरमेध है।

अजमेध

समाहारश्चाजमेधः सर्वधर्मानुवर्तनः। जायते म्रियते नैव चेति मिथ्यायुतो भवेत्। स एवमजमेधोऽयं समाहारस्त्रयात्मकः॥

अर्थ—पूर्वोक्त गोमेध, अश्वमेध और नरमेध का समाहार अर्थात् मेल ही अजमेध है। "वस्तु न मरती है और न पैदा होती है" इस प्रकार का ज्ञान अजमेध है।

महिषमेध

ततश्च माहिषो मेधः पञ्चमः सर्वसंस्थितः। ब्राह्मणा क्रियते नित्यम्॥

(१) अज=अ+ज। अर्थात् जो पैदा न हो, और अत एव मरे भी न।

अर्थः—पांचवां माहिषमेध है। इसे, ब्रह्म, नित्य करता है। इस प्रकार महर्षि गार्ग्यायण की भी, पञ्चमेधों की व्याख्या, अहिंसापरक ही है। यद्यपि महर्षि गार्ग्यायण का लेख अस्पष्ट और गम्भीर है, तो भी, इस लेख द्वारा, पाठकों को यह अवश्य ज्ञात होगया होगा कि प्राचीन ऋषिमुनि पञ्चमेधों के प्रचलित हिंसापरक अर्थ नहीं मानते थे[1]।

---

(1) काशी के प्रसिद्ध विद्वान् श्री बाबू भगवानदासजी, प्रणवबाद के प्रथम भाग में, पञ्चमेधों के अनुवाद क्रम में, टिप्पणी में एक विचारपूर्ण लेख लिखते हैं। यथा—

In the modern view these sacrifices mean, respectively, the bul sacrifice, the horse sacrifice, the man sacrifice, the goat sacrifice, and the buffalo sacrifice. One allegorical view interprets these as the sacrifices of the various animal passions typified by the various animals, pride, restlessness, selfishness, lust, anger, Etc.

इसका अभिप्राय यह है कि "वर्त्तमान समय में यद्यपि पञ्चमेधों के हिंसामय अर्थ प्रसिद्ध हैं, तो भी इन मेधों के लाक्षणिक और व्यङ्ग्य अर्थ भी सम्भव हैं। इस दृष्टि में, अभिमान, चाञ्चल्य, स्वार्थ, काम और क्रोध आदि पाशविक भावविकारों का त्याग ही, क्रम से, गोमेध, अश्वमेध, नरमेध, अजमेध और माहिषमेध है।

बारहवां प्रकरण

पशुयज्ञ तथा अन्य संस्कृत साहित्य

इस प्रकरण में, वैदिक साहित्य से भिन्न अन्य ग्रन्थों के कतिपय प्रमाण संगृहीत किये जाते हैं, जिनके अध्ययन से पाठकों को ज्ञात होगा कि संस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध २ ग्रन्थ, हिंसामय पशुमेधों के, सर्वथा विरुद्ध हैं।

१ महाभारत और पशुयज्ञ

(क) महाभारत, अश्वमेध पर्व के ९१ वें अध्याय के निम्नलिखित श्लोक विचारणीय हैं। यथा—

पुरा शक्रस्य यजतः सर्व ऊचुर्महर्षयः[1]।
ऋत्विक्षु कर्मव्यग्रेषु वितते यज्ञकर्मणि॥
आलम्भसमये तस्मिन् गृहीतेषु पशुष्वथ।
महर्षयो महाराज बभूवुः कृपयान्विताः॥
ततो दीनान्पशून् दृष्ट्वा ऋषयस्ते तपोधनाः।
ऊचुः शक्रं समागम्य नायं यज्ञविधिः शुभः॥
अपरिज्ञानमेतत्ते महान्तं धर्ममिच्छतः।
नहि यज्ञे पशुगणा विधिदृष्टाः पुरन्दर॥

---

(१) वैशम्पायन, राजा जनमेजय के प्रति कह रहे हैं।

धर्मोपघातकस्त्वेष समारम्भस्तव प्रभो ।
नायं धर्मकृतो यज्ञो न हिंसा धर्म उच्यते ॥
आगमेनैव ते यज्ञं कुर्वन्तु यदि चेच्छसि ।
विधिदृष्टेन यज्ञेन धर्मस्ते सुमहान् भवेत् ॥
यज बीजैः सहस्राक्ष त्रिवर्षपरमोषितैः ।
एष धर्मो महान् शक्र महागुणफलोदयः ॥

अर्थः—एक वार इन्द्र ने एक विस्तृत यज्ञ रचाया। ऋत्विजों ने, उस यज्ञ में, पशुवलि के निमित्त पशुओं का संग्रह किया। पशुओं के आलम्भन के समय, ऋषियों ने पशुओं को दीनभावयुक्त देख कर, इन्द्र के समीप जाकर कहा कि हे इन्द्र ! यज्ञ की यह विधि शुभ नहीं। आप महान् धर्म करने के अभिलाषी हुए हैं, परन्तु आप इसे विशेष रूप से नहीं जानते। क्योंकि पशुओं से यज्ञ करना विधि विहित नहीं है। जब हिंसा धर्मरूप से वर्णित ही नहीं, तब आपका हिंसामय यज्ञ धर्मयुक्त कैसे होगा ?। इसलिये आपका यह समारम्भ धर्मोपघातक है। हे इन्द्र ! यदि आप धर्म की अभिलाषा करते हैं तो, ऋत्विक्गण, आगम (वेद या ब्राह्मण ?) के अनुसार आप का यज्ञ करें। आपको उस विधिदृष्ट यज्ञ के द्वारा ही महान् धर्म होगा। हे इन्द्र ! आप, हिंसा त्याग कर, तीन वर्षों के पुराने बीजों से ही यज्ञ कीजिये।

(ख) महाभारत, शान्तिपर्व, मोक्षधर्म, अध्याय २६४

के निम्नलिखित श्लोक भी विचारयोग्य हैं। यथा—

लुब्धैर्वित्तपरैः ब्रह्मन्नास्तिकैः सम्प्रवर्त्तितम् ॥
वेदवादानविज्ञाय सत्याभासमिवानृतम् ॥
सतां वर्त्मानुवर्त्तन्ते यजन्ते त्वविहिंसया।
वनस्पतीनोषधीश्च फलं मूलं च ते विदुः ॥

अर्थः—लोभी, लालची, और नास्तिक लोगों ने—जोकि वेदों के अभिप्रायों को नहीं जानते—झूठ को सत्यरूप से वर्णित किया है। परन्तु जो सत्पुरुषों के मार्ग के अनुगामी हैं वे तो विना हिंसा के ही यज्ञ करते हैं। वे वनस्पतियों, ओष-धियों, फलों तथा मूलों से यज्ञ करते हैं।

(ग) महाभारत, शान्तिपर्व, मोक्षधर्म, अध्याय २६६ के निम्नलिखित श्लोक भी द्रष्टव्य हैं। यथा—

अव्यवस्थितमर्यादैर्विमूढैर्नास्तिकैर्नरैः।
संशयात्मभिरव्यक्तैर्हिंसा समनुवर्णिता ॥
सर्वकर्मस्वहिंसां हि धर्मात्मा मनुरब्रवीत्।
कामचाराद्विहिंसन्ति बहिर्वेद्यां पशून्नराः ॥

अर्थ—जिनकी कोई मर्यादा नहीं, जो स्वयं मूढ़, नास्तिक, संशयात्मा और छली कपटी हैं, उन्होंने यज्ञ में हिंसा का वर्णन किया है। धर्मात्मा मनु ने तो सब कामों में ही

(१) इससे भी प्रतीत होता है कि, वर्त्तमान मनुस्मृति में पठित हिंसापरक श्लोक, अवश्य प्रक्षिप्त हैं।

अहिंसाधर्म कहा है। परन्तु मनुष्य, व्यवहारों में तथा वेदी में, अपने कामवश ही, हिंसा करते हैं।

ऊपर के श्लोकों में पठित, "बाह्यैर्ग्राम्" पदों की व्याख्या, महाभारत के टीकाकार, श्रीमान् श्रीधराचार्य, निम्नलिखित शब्दों में करते हैं। यथा:—

बहिर्वेद्यामिव, सर्वकर्मसु ज्योतिष्टोमादिष्वपि, नराः कामकारादेव पशून् हिंसन्ति, ननु शास्त्रात् ॥

अर्थः—मनुष्य, जैसे वेदी से बाहिर अर्थात् अपने खान-पान में पशुहिंसा करते हैं, वैसे ही वे, ज्योतिष्टोम आदि यज्ञों में भी करते हैं। यह उनकी उच्छृंखलता या स्वेच्छाचारिता ही है। शास्त्र इसकी आज्ञा नहीं देते।

(घ) महाभारत शान्तिपर्व, मोक्षधर्म, अध्याय २६६ में और भी विचारणीय श्लोक हैं, जोकि निम्नलिखित हैं। यथा—

यदि यज्ञांश्च वृक्षांश्च यूपांश्चोद्दिश्य मानवाः।
वृथा मांसानि खादन्ति नैष धर्मः प्रशस्यते ॥
सुरां मत्स्यान्मधुमांसमासवं कृशरौदनम्।
धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतन्नैतद्वेदेषु कल्पितम् ॥
मानान्मोहाच्च लोभाच्च लौल्यमेतत्प्रकल्पितम्।
विष्णुमेवाभिजानन्ति सर्वयज्ञेषु ब्राह्मणाः ॥
पायसैः सुमनोभिश्च तस्यापि यजनं स्मृतम्।
यज्ञियाश्चैव ये वृक्षा वेदेषु परिकल्पिताः ॥

अर्थः—यज्ञ और यूप के बहाने से, मनुष्य, यदि वृथा (जिसका कि वेद में विधान नहीं) मांस खाते हैं, तो यह धर्म प्रशंसित नहीं । सुरा, मछली, मधु, मांस, आसव और कृशरोदन—इनका खाना-पीना धूर्तों ने चलाया है, वेदों में इनका ज़िक्र तक नहीं । धूर्तों ने, गर्व, अज्ञान लोभ तथा लालच से यह सब कल्पित कर लिया है । ब्राह्मण लोग, सब यज्ञों में, विष्णु (व्यापक परमात्मा) की ही पूजा करते हैं । और दूध, फूल तथा वेदों में वर्णित वृक्षों द्वारा ही उस यज्ञ के करने का विधान है ।

(ङ) महाभारत, शान्तिपर्व, मोक्षधर्म, अध्याय २७३ के निम्नलिखित श्लोक भी, इस सम्बन्ध में, अत्यावश्यक हैं । यथा—

राष्ट्रे धर्मोत्तरे श्रेष्ठे विदर्भेष्वभवद् द्विजः ।
उञ्छवृत्तिर्ऋषिः कश्चिद्यज्ञं यष्टुं समादधे ॥
उपगम्य वने सिद्धिं सर्वभूताविहिंसया ।
अपि मूलफलैरिष्टो यज्ञः स्वर्ग्यः परन्तप ॥
तस्मिन् वने समीपस्थो मृगोऽभूत्सहवासिकः ।
वचोभिरब्रवीत्सत्यं त्वयेदं दुष्कृतं कृतम् ॥
यदि मन्त्राङ्गहीनोऽयं यज्ञो भवति वै कृतः ।
मां भो ! प्रक्षिप होत्रे त्वं गच्छ स्वर्गमनिन्दितः ॥
स तु धर्माञ्जलिं सत्यमयाचद्धरिणः पुनः ।
सत्येन सः परिष्वज्य सन्दिष्टो गम्यतामिति ॥

ततः स हरिणो गत्वा पदान्यष्टौ न्यवर्त्तत ।
साधु हिंसय मां सत्य हतो यास्यामि सद्गतिम् ॥
स तु धर्मो मृगो भूत्वा बहुवर्षोषितो वने ।
तस्य निष्कृतिमाधत्त नह्यसौ यज्ञसंविधिः ॥
तस्य तेनानुभावेन मृगहिंसात्मनस्तदा ।
तपो महत्समुच्छिन्नं तस्माद्धिंसा न यज्ञिया ॥

अर्थः—धर्मप्रधान विदर्भ[1] राज्य में उञ्छवृत्ति नाम वाला एक ब्राह्मण रहता था। उसने यज्ञ करने का संकल्प किया। वन में जाकर उसने सब प्राणियों के प्रति, अहिंसाव्रत द्वारा, सिद्धिलाभ किया, और फल[2] तथा मूलों से यज्ञ कर स्वर्ग को प्राप्त हुआ। । उस वन में, समीप में, एक मृग रहता था। वह ऋषि उञ्छवृत्ति के पास आकर बोला कि तुमने अत्यन्त दुष्कर कार्य्य किया है। यदि तुम्हारा यज्ञ मन्त्र या अन्य किसी अङ्ग से हीन हुआ हो तो मुझे अग्नि में डाल कर स्वर्ग में जाओ। ऋषि उञ्छवृत्ति ने स्वीकार न किया। उस हरिण ने हाथ जोड़ कर पुनः प्रार्थना की। तब ऋषि ने केवलमात्र स्पर्श[3] करके उसे छोड़ दिया। वह हरिण आठ पग जाकर पुनः लौट आया, और कहने लगा कि मेरी अवश्य हिंसा करो ताकि मैं सद्गति को प्राप्त होऊँ। वह मृग वास्तव

(१) वर्त्तमान समय का बराबर और छोटा नागपुर।

(२) मांस से नहीं। (३) यज्ञ में पशुओं को स्पर्श करके उन्हें छोड़ देना चाहिये, यह भाव इससे सूचित होता है।

में धर्मरूप था। धर्म ने, उस मृग की शकल में, बहुत वर्षों तक, उस वन में वास किया था। उञ्छवृत्ति ने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर उसे मृगरूप से मुक्त किया।[1] परन्तु यह यज्ञ की विधि नहीं। मृग की हिंसा करने से उस ऋषि का महान् तप नष्ट होगया।[2] इसलिये हिंसा यज्ञीय नहीं है।

(च) महाभारत, शान्तिपर्व के निम्नलिखित श्लोक भी, इस सम्बन्ध में अत्यावश्यक हैं। यथा—

ध्रुवं प्राणिवधो यज्ञे नास्ति यज्ञस्त्वहिंसकः।
ततोऽहिंसात्मकः कार्यः सदा यज्ञो युधिष्ठिर॥
यूपं छित्वा पशून् हत्वा कृत्वा रुधिरकर्दमम्।
यद्येवं गम्यते स्वर्गं नरकं केन गम्यते॥

अर्थः—निश्चय जानो कि यज्ञ में प्राणिवध की विधि नहीं। यज्ञ तो अहिंसक है। इसलिये हे युधिष्ठिर! सर्वदा हिंसारहित यज्ञ ही करना चाहिये। यूप को काटकर, पशुओं को मारकर, तथा वेदी को लहू से लथपथ कर, यदि, मनुष्य स्वर्ग जा सकता है, तो कहो कि वह फिर नरक को किन कर्मों

(१) उञ्छवृत्ति ने धर्म को मृगरूप से मुक्त करने के विचार से ही मृग की प्रार्थना को स्वीकार किया। परन्तु निश्चय से जानना चाहिये कि यज्ञ में पशुहिंसा की विधि कहीं भी नहीं—यह यहां अभिप्राय है।

(२) मृग की बारम्बार प्रार्थना पर भी कीगई हिंसा द्वारा ऋषि का महान् तप नष्ट होगया, अतः यज्ञ में हिंसा कदापि न करनी चाहिये।

से प्राप्त होगा, ।

(छ) महाभारत, अनुशासन पर्व, अध्याय ११५ में लिखा है कि पहले समय में मनुष्य लोग व्रीही (धान, जिस में से चावल निकलते हैं) को ही पशु मानते थे, और उस व्रीही-पशु से ही यज्ञ किया करते थे । यथा—

श्रूयते हि पुरा कल्पे नृणां व्रीहिमयः पशुः ।
तेनायजन्त यज्वानः पुण्यलोकपरायणाः ॥
ऋषिभिः संशयं पृष्टो वसुश्चेदिपतिः पुरा ।
अभक्ष्यमिति मांसं यः प्राह भक्ष्यमिति प्रभो ॥
आकाशादवनिं प्राप्तः ततः स पृथिवीपतिः ।
एतदेव पुनश्चोक्त्वा विवेश धरणीतलम् ॥

अर्थः— सुना जाता है कि पहले समय में, यज्ञों में, व्रीहिमय[2] पशु था । यज्ञ करने वाले भी उसी व्रीहिमय पशु से यज्ञ करते थे, और पुण्य लोक को प्राप्त होते थे । एक बार ऋषियों ने, संशय के निवारणार्थ, चेदी राज्य के स्वामी वसु राजा से प्रश्न किया । उस समय वसु राजा ने अभक्ष्य मांस को भी भक्ष्य कहा । इस से वह स्वर्ग से पृथिवी पर आ गिरा ।

---

(१) इन श्लोकों में स्पष्ट दर्शाया है कि यज्ञ में की गई हिंसा भी नरक का साधन है ।

(२) अतः प्राचीन साहित्य में, जहां, पशु द्वारा यज्ञ करने का वर्णन हो, वहां, धान रूपी पशु की कल्पना को अवश्य स्मरण रखना चाहिये ।

(ज) महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३३८ में वर्णित है कि राजा उपरिचर वसु ने अश्वमेध यज्ञ किया और उस में पशुघात नहीं किया गया। जिन श्लोकों में इसका वर्णन है वे निम्नलिखित हैं। यथा—

तस्य यज्ञो महानासीदश्वमेधो महात्मनः।
बृहस्पतिरुपाध्यायस्तत्र होता बभूव ह॥
प्रजापतिसुताश्चात्र सदस्या अभवँस्त्रयः।
एकतश्च द्वितश्चैव त्रितश्चैव महर्षयः॥
धनुषाख्योऽथ रैभ्यश्च अर्वावसुपरावसू।
ऋषिर्मेधातिथिश्चैव ताण्ड्यश्चैव महानृषिः॥
ऋषिः शान्तिर्महाभागस्तथा वेदशिराश्च यः।
ऋषिश्रेष्ठश्च कपिलः शालिहोत्रपिता स्मृतः॥
आद्यः कठस्तैत्तिरिश्च वैशम्पायनपूर्वजः।
कण्वोऽथ देवहोत्रश्च एते षोडश कीर्तिताः॥
सम्भूताः सर्वसम्भारास्तस्मिन्राजन्महाक्रतौ।
न तत्र पशुघातोऽभूद्राजैवावस्थितोऽभवत्॥
अहिंस्रः शुचिरक्षुद्रो निराशीः सर्वसंस्तुतः।
आरण्यकपदोद्भूता भागास्तत्रोपकल्पिताः॥

अर्थः—महानुभाव राजा उपरिचर वसु का अश्वमेध यज्ञ महान् था। उपाध्याय बृहस्पति उस यज्ञ में होता हुए। प्रजापति के पुत्र महर्षि एकत, द्वित और त्रित, सदस्य हुए। धनुषाख्य, रैभ्य, अर्वावसु, परावसु, ऋषि मेधातिथि, महर्षि ताण्ड्य, ऋषि शान्ति, महाभाग वेदशिरा, ऋषिश्रेष्ठ

कपिल, आद्य, कठ, तैत्तिरि, वैशम्पायन, पूर्वज, कण्व और देवहोत्र—ये १६ ऋषि उस यज्ञ में दीक्षित हुए। उस महा-यज्ञ में सब प्रकार की सामग्री एकत्र की गई। परन्तु उस अश्वमेध यज्ञ में पशुघात बिल्कुल नहीं हुआ।

२ श्रीमद्भागवत और पशुयज्ञ

श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ४, अध्याय २५ में भी, यज्ञ में पशुवध के निषेधक, निम्न-लिखित श्लोक मिलते हैं। यथाः—

(क) भो भोः प्रजापते राजन् पशून्पश्य त्वयाध्वरे।
संज्ञापितान् जीवसंघान्निर्घृणेन सहस्रशः॥
एते त्वां संप्रतीक्षन्ते स्मरन्तो वैशसं तव।
सम्परेतमयःकूटैश्छिन्दन्त्युत्थितमन्यवः॥

अर्थः—प्राचीनबर्हिष राजा ने यज्ञ में हिंसा की थी। उसको लक्ष्य में रख कर नारदमुनि उस राजा के प्रति कहते हैं कि हे राजन्! जिन हज़ारों पशुओं का, निर्दय होकर, तूने अपने यज्ञ में, वध कराया है, उन्हें देख। वे तेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं कि तू कब मरे ताकि वे लोहे के सदृश अपने तीखे सींगों से तुझे छिन्न भिन्न करें।

(१) इससे प्रतीत होता है कि पशुघात, अश्वमेध का, कोई आवश्यक अङ्ग नहीं। विना पशुवध के भी अश्वमेध सम्पन्न हो सकता है।

(२) श्रीमद्भागवत के इस वर्णन से स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि, कतिपय विद्वानों की यह कल्पना कि पशुओं का यज्ञ में वध करना इन

(ख) श्रीमद्भागवत, स्कन्ध, ११, अध्याय २१ और श्लोक ३० वें में लिखा है कि हिंसारत मनुष्य ही पशुवध द्वारा श्राद्ध और यज्ञ करते हैं। वे वास्तव में मांसलोभी हैं और निश्चय से छली कपटी हैं। वह श्लोक निम्नलिखित है। यथा—

हिंसाविहारा ह्यालब्धैः पशुभिः स्वसुखेच्छया।
यजन्ते देवता यज्ञैः पितृभूतपतीन् खलाः॥

अतः श्राद्ध और यज्ञों में हिंसा करना, श्रीमद्भागवत की आज्ञा के सर्वथा विपरीत है।

३ स्कन्धपुराण और पशुयज्ञ

स्कन्धपुराण के छठे अध्याय में भी अन्न द्वारा ही यज्ञ करने का विधान किया गया है। यथा—

अन्नैर्व्रीह्यादिभिर्यज्ञः पयोदधिघृतादिभिः।
रसैश्च क्रियतां तेन तृप्तिं यास्यन्ति देवताः॥
सात्विका देवताः प्रोक्तास्तामसा असुरास्तथा।
राजसा मनुजाः शास्त्रेऽप्यूर्ध्वाधोमध्यवासिन.॥
मधुमांसप्रिया दैत्यास्तामसत्वाद्भवन्ति च।
देवास्तु सात्विका ब्रह्मन्नाज्यादिरसप्रियाः॥

अर्थः—"धान आदि अन्न, दूध, दही, घृतादि तथा रस"

पर उपकार करना है, चूंकि वे इस प्रकार सीधे स्वर्ग में जाते हैं—नितान्त असत्य है। क्योंकि राजा प्राचीनबर्हिष के यज्ञ में वध द्वारा, पशु यदि स्वर्ग गये होते तो, वे इस राजा को उपकारबुद्धि से देखते, नांक विद्वेषबुद्धि से।

इन द्वारा ही यज्ञ करो। इसी से देवता तृप्त होंगे। देव सात्विक हैं, असुर तामस और मनुष्य राजस हैं। तमोगुणी होने के कारण, दैत्य शराब और मांस में रुचि रखते हैं। देव सत्वगुणी हैं, अतः उनकी रुचि घी आदि रसों में है।

इन श्लोकों में स्पष्ट कहा है कि यज्ञ में अन्न, दूध, दही, घी तथा अन्य रसों का ही प्रयोग होना चाहिये, मांस शराब का नहीं। कारण यह कि देव इन्हीं वस्तुओं का उपभोग करते हैं। मांस शराब का उपभोग करने वाले दैत्य, असुर और राक्षस कहलाते हैं, देव नहीं।

४ नारद पञ्चरात्र और पशुयज्ञ

नारद पञ्चरात्र में भी लिखा है कि वेद में हिंसा का कहीं भी प्रतिपादन नहीं। वह श्लोक निम्नलिखित है। यथाः—

श्रुतिर्वदति विश्वस्य जननीव हितं सदा।
कस्यापि द्रोहजननं न वक्ति प्रभुतत्परा॥

अर्थः—श्रुति (वेद) माता की न्याई सम्पूर्ण प्राणियों के हित का उपदेश करती है। वह किसी जाति या प्राणीविशेष के द्रोह (हत्या) के लिये आज्ञा नहीं देती।

इस श्लोक में वेद को माता कहा है। माता अपने किसी भी पुत्र की हिंसा नहीं चाहती। सभी प्राणी वेदमाता के पुत्र हैं। वह वेदमाता अपने किसी भी पुत्र की हत्या की आज्ञा कैसे देगी?।

५ पराशर स्मृति और पशुयज्ञ

पराशर स्मृति का निम्नलिखित श्लोक भी अवश्य विचार योग्य है । यथाः—

यस्तु प्राणिवधं कृत्वा देवान् पितृँश्च तर्पयेत् ।
सोऽविद्वांश्चन्दनं दग्ध्वा कुर्यादङ्गारलेपनम् ॥

अर्थः—जो मनुष्य प्राणियों का वध कर, उनके मांस से देवों और पितरों का तर्पण करता है, मानो, वह मूर्ख चन्दन को जलाकर अङ्गारों का लेपन करता है ।

इस प्रकार पराशर स्मृति ने भी, यज्ञों तथा श्राद्धों में, पशुवध का सर्वथा निषेध किया है; और यज्ञों तथा श्राद्धों में पशुवध करने वाले को अविद्वान् भी कहा है ।

६ पद्मपुराण और पशुयज्ञ

पद्मोत्तर खण्ड, अध्याय १०४ तथा १०५ में माता पार्वती शिव के प्रति कहती है कि यज्ञ के सम्बन्ध में पशुवध की आज्ञा, वेदों में नहीं है । जिन श्लोकों में इस प्रकार का वर्णन है वे निम्नलिखित हैं । यथा—

ये ममार्चनमित्युक्त्वा प्राणिहिंसनतत्पराः ।
तत्पूजनं ममामेध्यं यद्दोषात्तदधोगतिः ॥

मदर्थं शिव कुर्वन्ति तामसा जीवघातनम् ।
आकल्पकोटि निरये तेषां वासो न संशयः ॥

यस्तु यज्ञे पशून्हत्वा कुर्याच्छोणितकर्दमान् ।
स पचेन्नरके तावद्यावल्लोमानि तस्य वै ॥

जानाति को वेदपुराणतत्त्वं ये कर्मठाः पाण्डितमानशुक्ताः ।
लोकाधमास्ते नरकं पतन्ति कुर्वन्ति मूर्खाः पशुघातनं चेत् ॥

अर्थः—जो लोग, मेरी पूजा के खयाल से प्राणियों की हिंसा करते हैं, उन द्वारा की गई वह पूजा अपवित्र है । इस हिंसादोष से उनकी अधोगति अवश्य होगी । हे शिव ! तमोगुणी लोग ही मेरे लिये पशुवध करते हैं । निश्चय से ही, करोड़ों कल्पों तक, उनका, नरक में वास होता है । जो मनुष्य, यज्ञ में, पशुओं की हत्या करता है, वह नरक में असह्य कष्ट भोगता है । वास्तव में अभिमानी कर्मकाण्डी, वेद और पुराण के तत्त्व को नहीं जानते । पशुवध करने वाले लोकाधम हैं और मूर्ख हैं, वे अवश्य नरक में गिरते हैं ।

शतपथ ब्राह्मण और पशुयज्ञ

शतपथ ब्राह्मण, काण्ड ११, अध्याय ३, ब्राह्मण १, और कांण्डका २—४ में, राजर्षि जनक और महर्षि याज्ञवल्क्य के परस्पर संवाद का वर्णन है । इस संवाद में अग्निहोत्र के स्वरूप के सम्बन्ध में लगातार कई प्रश्नोत्तर हैं । इन प्रश्नोत्तरों से प्रतीत होता है कि अग्निहोत्र में मांसाहुति सर्वथा निषिद्ध है । वह संवाद निम्नलिखित है । यथा—

तद्धैतज्जनको वैदेहः याज्ञवल्क्यं पप्रच्छ, वेत्थाग्निहोत्रं याज्ञवल्क्य इति ? । वेद सम्राडिति । किमिति ? । पय एवेति ॥२॥ यत्पयो न स्यात्केन जुहुया इति ? । व्रीहियवाभ्यामिति । यद् व्री-

हियवौ न स्यातां केन जुहुया इति ? । या अन्या ओषधय इति । यदन्या ओषधयो न स्युः केन जुहुया इति ? । या आरण्या ओषधय इति । यदारण्या ओषधयो न स्युः केन जुहुया इति ? । वानस्पत्येनेति । यद्वानस्पत्यं न स्यात्केन जुहुया इति ? । अद्भिरिति । यदापो न स्युः केन जुहुया इति ? ॥ ३ ॥ स होवाच, न वा इह तर्हि किंचनासीदथैतदहूयतैव "सत्यं श्रद्धायामिति" । वेत्थाग्निहोत्रं याज्ञवल्क्य ! धेनुशतं ददामीति होवाच ॥ ४ ॥

अर्थः—विदेह देश का राजा राजर्षि जनक, याज्ञवल्क्य से अग्निहोत्र के सम्बन्ध में प्रश्न करता है कि—

(प्रश्न) हे याज्ञवल्क्य ! क्या तू अग्निहोत्र को जानता है ? ।

(उत्तर) सम्राट् ! हाँ, मैं जानता हूँ ।

(प्रश्न) क्या ? ।

(उत्तर) दूध, यह ही ।

(प्रश्न) दूध न हो तो किस से हवन करे ? ।

(उत्तर) धान और जौ से ।

(प्रश्न) धान और जौ न हों तो किस से हवन करे ? ।

(उत्तर) जो अन्य (ग्राम्य) ओषधियां हैं उनसे ।

(प्रश्न) अन्य (ग्राम्य) ओषधियां न हों तो किस से हवन करे ? ।

(उत्तर) जो जङ्गल की ओषधियां हैं उनसे ।

(१) जिन का, फल के पकने पर अन्त हो जाय, उन्हें ओषधि कहते हैं ।

(प्रश्न) जङ्गल की ओषधियां न हों तो किस से हवन करे ?।
(उत्तर) वनस्पति[1] से ।
(प्रश्न) वनस्पति न हो तो किस से हवन करे ?।
(उत्तर) जल से ।
(प्रश्न) जल न हो तो किस से हवन करे ?।
(उत्तर) तब श्रद्धा की अग्नि में सत्य का हवन करे।
अर्थात् श्रद्धापूर्वक सत्यानुष्ठान करे।

तब जनक बोले कि हे याज्ञवल्क्य ! तू अग्निहोत्र के स्वरूप को जानता है। मैं तुझे १०० गौएं देता हूँ[2]।

(१) जिनमें, बिना पुष्प के फल लगें, उन्हें वनस्पति कहते हैं। जैसे गूलर आदि।

(२) यद्यपि इस संवाद में, केवल अग्निहोत्र के सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर हैं, अन्य यज्ञों, क्रतुओं तथा सत्रों के सम्बन्ध में नहीं, तो भी शतपथ-कालीन आर्यों में, यज्ञों में, यदि मांसाहुति देने की आदत होती तो अग्निहोत्र के सम्बन्ध में की गई प्रश्नोत्तरों की परम्परा में भी, कहीं न कहीं, मांसाहुति का प्रसङ्ग भी अवश्य सम्भावित होता। चूँकि याज्ञवल्क्य ने अपनी इस परम्परा में मांसाहुति का वर्णन बिल्कुल नहीं किया, इससे सम्भवतः यह परिणाम निकल सके कि यज्ञों में मांसाहुति देना शतपथ के वास्तविक अभिप्राय से सर्वथा विरुद्ध ही है।

तेरहवां प्रकरण

वेद और मांसभक्षण

इस प्रकरण की आवश्यकता

पशुयज्ञ के साथ २ मांसभक्षण पर विचार करना भी अत्यावश्यक है। कारण यह कि यज्ञों में यह परिपाटी है कि यज्ञ समाप्त होने पर उसके हुतशेष का आस्वादन भी किया जाय। यह परिपाटी पशुयज्ञों में भी है। अतः इस परिपाटी के अनुसार, यज्ञावशिष्ट मांस का आस्वादन करना भी आवश्यक सा हो जाता है। अतः इस प्रकरण में, संक्षेपतः, यह दर्शाने का यत्न किया जायगा कि वेदों में मांसभक्षण का भी विधान नहीं। यह प्रकरण लम्बा न हो जाय, इसी भय से, केवल वेदों के प्रमाण ही यहां दिये जायँगे, उन से अतिरिक्त प्रमाणों का संग्रह यहां न किया जायगा।

मांस के सम्बन्ध में विचारणीय निर्देश

मांसभक्षण के सम्बन्ध में, निम्नलिखित, निर्देशों पर विचार किया जायगा। यथा-

(१) वेदों में, मांस को, राक्षस-भोजन कहा है।

(२) वेदों में मांस भक्षण का निषेध है।

(३) वेदों में क्षुधा की निवृत्ति के लिये जौ आदि अन्नों का ही विधान है, मांस का नहीं।

(४) भोज्य पदार्थों की प्रार्थनाओं अथवा सूचि में मांस का परिगणन नहीं किया।

(५) वैदिक प्रार्थनाओं में, यद्यपि गौ आदि पशुओं की प्राप्ति के लिये प्रार्थनाएं हैं, तथापि, उनकी प्राप्ति (भोजन के सम्बन्ध में) उन के दूध आदि के लिये है, न कि उन के मांस के लिये।

(६) वैदिक रहस्यवाद में मांस शब्द का अर्थ।

(७) वैदिक रहस्यवाद में अश्व आदि शब्दों के अर्थ।

अब इन निर्देशों पर, क्रमपूर्वक, संक्षेप से, विचार किया जाता है। यथा—

१ मांस-भक्षक राक्षस हैं

"वेदों में, मांस को, राक्षसभोजन कहा है"—इस कथन को प्रमाणित करने के लिये, वेदों में पठित, राक्षसों के कतिपय नामों पर विचार किया जाता है।

(क) क्रव्याद यह नाम राक्षसों का है। क्रव्याद= क्रव्य+अद। क्रव्य शब्द क्रुवि धातु से बनता है जिस का अर्थ है "हिंसा"। यथा—क्रुवि हिंसायाम्। अतः क्रव्य शब्द का अर्थ है "हिंसा से प्राप्त मांस"। अद का अर्थ है "खाने वाले

या खाने वाला"। अतः क्रव्याद का अर्थ है "हिंसा से प्राप्त मांस के खाने वाले"। वेदों में क्रव्याद यह नाम राक्षसों का है। अतः वैदिक सिद्धान्त के अनुसार, सभी मांसभक्षक राक्षस हैं—यह सिद्ध हुआ।

(ख) पिशाच यह नाम भी राक्षसों का है। पिशाच शब्द=पिशित+अश। पिशित का अर्थ है "मांस" और अश का अर्थ है "खाने वाले"। अतः पिशाच का अर्थ है "मांस के खाने वाले"। अतः पिशाच शब्द भी यही सिद्ध कर रहा है कि वैदिक सिद्धान्त के अनुसार, मांसभक्षक राक्षस हैं, मनुष्य नहीं।

(ग) असुतृप यह नाम भी राक्षसों का है। असु-तृप=असु+तृप। असु का अर्थ है "प्राण या जीवन" और तृप का अर्थ है "तृप्त होने वाले"। अतः असुतृप का अर्थ है "दूसरों के प्राणों पर तृप्त होने वाले"। अर्थात् जो दूसरों का जीवन हरण कर, उन के मांस द्वारा अपनी तृप्ति करते हैं वे असुतृप हैं। अतः असुतृप शब्द से भी यही सिद्ध होता है कि वे मनुष्य, जो कि दूसरों के मांस से अपनी तृप्ति करते हैं, वास्तव में, राक्षसकोटि के ही हैं। असुर शब्द का भी यही अर्थ है। असु का अर्थ है "प्राण" और र का अर्थ है "रमण करने वाले"। अर्थात् जो दूसरों के प्राणों पर रमण करें वे असुर हैं।

(घ) **गर्भाद्** यह नाम भी राक्षसों का है। गर्भाद् का अर्थ है "गर्भ के खाने वाले"। गर्भ के दो अर्थ हैं। (१) वह जीवन-तत्त्व जिससे कि बच्चे का शरीर बनता है। (२) नवजात-शिशु अथवा छोटे २ पशु-पक्षी। पहले अर्थ में अण्डों के खाने वाले गर्भाद हैं। क्योंकि अण्डे में, बच्चे के शरीर को बनाने वाला जीवन—तत्त्व रहता है, जिसे कि लोग खा जाते हैं। दूसरे अर्थ में नवजात या छोटे २ पशु—पक्षियों के खाने वाले गर्भाद हैं। इस श्रेणी में वे लोग शामिल होते हैं, जो कि चूजों को खाते हैं, या उनका सत निकाल कर खाते हैं। इस प्रकार के सभी लोग, वैदिक दृष्टि में, पूर्ण राक्षस हैं।

(ङ) **अण्डाद्** यह नाम भी राक्षसों का है। अण्ड का अर्थ है "अण्डे" और अद् का अर्थ है "खाने वाले"। अतः अण्डाद् का अर्थ है "अण्डों के खाने वाले"। वर्त्तमान समय में, अण्डों के खाने का बहुत रिवाज है। वेदों की दृष्टि में, अण्डों के खाने वाले, राक्षस नाम से पुकारे जाने के योग्य हैं।

(च) **मांसाद्** यह नाम भी राक्षसों का है। मांसाद का अर्थ है "मांस के खाने वाले"। यह शब्द अत्यन्त स्पष्ट है जो कि मांस के खाने का निषेध कर रहा है।

राक्षसों को दण्ड

वेदों में, इन राक्षसों को कठोर दण्ड देने का विधान है। यथा—इन के सिर

काट देने; इन्हें जला देना; गृह, धन तथा परिवार से इन्हें वियुक्त कर देना; इन्हें मृत्या मारना आदि।

अतः जो वेद, मांसभक्षकों के लिये इतने कठोर दण्डों का विधान करता है, और जो इन्हें घृणित राक्षस नाम से पुकारता है,—वह अतिथियज्ञ, श्राद्ध, पशुयज्ञ और साधारण भोजन में मांस के प्रयोग की आज्ञा देगा, यह बात समझ में नहीं आ सकती।

२ मांसभक्षण का निषेध

"वेदों में मांस-भक्षण का निषेध है"—इस कथन की प्रामाणिकता के लिये, यहां कतिपय मन्त्र उपस्थित किये जाते हैं। यथा—

(क) व्रीहिमत्तं यवमत्तमथो माषमथो तिलम्। एष वां भागो निहितो रत्नधेयाय दन्तौ, मा हिंसिष्टं पितरं मातरं च॥
अथर्व० ६।१४०।२॥

अर्थः—हे दाँतो! तुम धान खाओ, जौ खाओ, माष खाओ, तथा तिल खाओ। यह अन्न ही तुम्हारा नियत हिस्सा है। इसके भक्षण से तुम्हें रमणीय फल मिलेगा। तुम पिता और माता की हिंसा न करो।

इस मन्त्र में दांतों को सम्बोधित करके कहा है कि हे दांतो! (१) प्रभु ने, तुम्हारे खाने के लिये धान आदि अन्न ही नियत किया है, मांस नहीं। (२) इस धान आदि

अन्न के खाने से ही तुम्हें उत्तम फल मिल सकता है। क्योंकि अन्नभक्षियों के दांत शीघ्र नहीं बिगड़ते और मांसभक्षियों के शीघ्र बिगड़ जाते हैं। (३) तुम पिता और माता की हिंसा न करो। अर्थात् तुम पितृशक्ति या मातृशक्ति से सम्पन्न किसी भी प्राणी का विलोप न करो। मांसभक्षी, पशु-पक्षियों की हत्या द्वारा, संसार में, पितृशक्ति और मातृशक्ति का विलोप करते हैं। इस मन्त्र में दांतों के प्रति कहा है कि तुम मांस-भक्षण द्वारा पितृशक्ति और मातृशक्ति की हिंसा न करो।

अतः यह मन्त्र मांस-भक्षण का स्पष्ट निषेधक है।

(ख) उपहूतौ सयुजौ स्योनौ दन्तौ सुमङ्गलौ। अन्यत्र वां घोरं तन्वः परैतु, मा हिंसिष्टं पितरं मातरं च ॥ अथर्व० ६। १४०। ३॥

अर्थः—हे सुखदायक तथा सुमङ्गल दांतो! तुम्हारा छेदन भेदन रूपी घोर कर्म, शरीरों अर्थात् प्राणियों से अन्यत्र (धान जौ आदि में) हो, तुम पितृशक्ति और मातृशक्ति की हिंसा न करो।

इस मन्त्र में दांतों के प्रति स्पष्ट आज्ञा है कि तुम्हारा छेद-भेदन तथा चबाना—पीसना आदि घोर कर्म, प्राणिदेहों अर्थात् मांस में न हो; अपितु उस से अन्यत्र अर्थात् धान जौ आदि में हो। तथा यह भी आज्ञा दी है कि तुम पितृ-

शक्ति और मातृशक्ति की हिंसा न करो। मांस-भक्षण द्वारा इन शक्तियों की हिंसा होती है। अतः, इस वर्णन द्वारा, मांस के भक्षण का निषेध किया गया है।

(ग) य आमं मांसमदन्ति पौरुषेयं च ये क्रविः।
गर्भान् खादन्ति केशवास्तानितो नाशयामसि॥
अथर्व० ८। ६। २३॥

अर्थः—जो आमं मांस (कच्चे, घर में पके, तथा गौ के मांस) को खाते हैं, जो पौरुषेयं क्रवि (पितृशक्ति और मातृ-शक्ति की हत्या से प्राप्त मांस) को खाते हैं, जो गर्भों (अण्डों

(१) आम मांस के तीन अर्थ हैं। (क) कच्चा मांस। इस के लिये देखो वाचस्पत्य कोष। यथा—"आम्यते ईषत्पच्यते, आ+अम; ईषत्पक्के, पाकरहिते॥ (ख) घर में पका मांस। अमा=घर; निघं० अ० ३, खं० ४॥ अतः आम=घर सम्बन्धी, अर्थात् घर में पका हुआ। (ग) गौ का मांस। इस अर्थ के लिये आम शब्द पर आपटे कोष देखो।

(२) पुरुष शब्द से, यहां, पुरुष और स्त्री दोनों का ग्रहण है। "पुरुषश्च पुरुषी च पुरुषौ" इस प्रकार का यहां "पिता मात्रा" सूत्र के आधार पर एकशेष मानना चाहिये। अतः पौरुषेय का अर्थ हुआ "पुरुष और स्त्री की हिंसा से प्राप्त"। इसलिये पौरुषेय क्रवि=पुरुष और स्त्री की हिंसा से प्राप्त मांस। मांस के प्राप्त करने में या तो पितृशक्ति की हिंसा होगी या मातृशक्ति की। क्योंकि संसार में प्राणी या तो पितृशक्तिसम्पन्न हैं या मातृशक्तिसम्पन्न।

(३) गर्भ=उत्पादन का जीवन-तत्त्व, तथा नवजात या छोटे २ पशु-पक्षी।

तथा नवजात या छोटे २ पशु-पक्षियों) को खाते हैं—इस प्रकार के केशवों (जिन का देह कबरस्तान बना हुआ है) का, हम, यहां से, नाश करते हैं ।

इस मन्त्र में कच्चे, घर में पके, तथा गौ के मांस के खाने वालों; पितृशक्ति और मातृशक्ति की हिंसा करने वालों; अण्डों तथा नवजात या छोटे २ पशु-पक्षियों के खाने वालों के नाश करने की आज्ञा दी है ।

(घ) क्षुधे यो गां विकृन्तन्तं भिक्षमाण उपतिष्ठति ॥

यजु० ३० । १२ ॥

अर्थः—गौ काटी जा रही हो और उस समय जो गो-मांस की भिक्षा के लिये वहां आ उपस्थित हो, उसे क्षुधा का दण्ड देना चाहिये । अर्थात् उसे भूखा रहने की सज़ा देनी चाहिये ।

यह मन्त्र यजुर्वेद के ३० वें अध्याय का है । इस अध्याय में एक पूर्ण राष्ट्र का तथा यत्किञ्चित् दण्डनीति का भी वर्णन है । इस का स्पष्ट वर्णन पुरुषमेध के प्रकरण में किया जा चुका है । इसी दण्डनीति के सिलसिले में "क्षुधादण्ड"

(१) क=देह; और शव=मुर्दा । "के" सप्तमी विभक्ति का एक वचन है। अतः केशवाः=वे मनुष्य जिन के देह अर्थात् पेट में मुर्दे निवास करते हैं । "क" का अर्थ देह है, इसके लिये देखो वाचस्पत्य तथा आपटे कोष ।

का भी विधान है । पुरुषमेध के प्रकरण में, इसी ३० वें अध्याय के प्रमाण के आधार पर दर्शाया गया है कि गोघाती को प्राणदण्ड देना चाहिये । यह राजकीय धर्म है । इसलिये गोघाती को, तो "प्राणदण्ड"; और जो स्वयं गोघाती तो नहीं, परन्तु गौ को कटती हुई देख कर मांस की भिक्षा के लिये आ उपस्थित होता है, उसे "क्षुधादण्ड" देना चाहिये, यह यहां अभिप्राय है । परन्तु उस मनुष्य को—जो कि गौ का घात तो नहीं करता, और न गौ का मांस ही खाता है, परन्तु चर्मकार होने के कारण गौ का चमड़ा उतारना चाहता है—कोई दण्ड न मिलना चाहिये ।

३ क्षुधानिवृत्ति के साधन धानादि अन्न हैं, मांस नहीं

"वेदों में, क्षुधा की निवृत्ति के लिये, धान आदि अन्नों, तथा दुग्ध आदि पदार्थों का ही विधान है, मांस का नहीं"—इस के स्पष्टीकरण के लिये, निम्नलिखित मन्त्रों पर विचार किया जाता है । यथा—

(क) गोभिष्टरेमामतिं दुरेवां यवेन वा क्षुधं पुरुहूत विश्वे ।
वयं राजसु प्रथमा धनान्यरिष्टासो वृजिनीभिर्जयेम ॥
अथर्व० ७ । ५० । ७ ॥

(१) वृजन=बल; निघं० अ० २, खं० ९ ॥ तथा "मध्योवृत्तं तु वृजनं वर्तते बलयुद्धयोः (माधव) ।

अर्थः—हे पुरुहूत प्रभो ! हम सब, दुर्व्यवहार की उत्पादक अमति (कुमति और बुद्धि की न्यूनता) को, गौओं के दूध आदि के सेवन से दूर करें। हम सब जौ आदि अन्नों के द्वारा क्षुधा को दूर करें। इस प्रकार हम सब रोगरहित हों। तथा हम सब, सेनाओं के द्वारा, राजाओं के ख़ज़ानों को जीतें या लूटें।

इस मन्त्र में चार निर्देश हैं। (१) पहला निर्देश यह कि " गो के दूध आदि पदार्थ अमति अर्थात् कुमति के नाशक तथा सद्बुद्धि के वर्धक हैं "।

(२) दूसरा निर्देश यह कि " विश्वे अर्थात् हम सब, अपनी क्षुधा की निवृत्ति जौ आदि अन्नों द्वारा करें "। इस निर्देश में विश्वे शब्द पर विशेष ध्यान देना चाहिये। विश्वे का अर्थ है "सब"। अतः इस निर्देश द्वारा सभी मनुष्यों के प्रति यह वैदिक आज्ञा है कि वे, अपनी क्षुधा की निवृत्ति, जौ आदि अन्नों द्वारा ही करें, मांस द्वारा नहीं।

(३) तीसरा निर्देश यह कि " इस प्रकार गो के दूध आदि सात्त्विक पदार्थों तथा जौ आदि अन्नों के सेवन से हम सब रोगरहित हों "। सम्भव है कि शाकभोजी तथा दुग्धाहारियों में रोगों की सम्भावना कम हो।

(४) चौथा निर्देश यह है कि " हम सब, सेनाओं के

द्वारा, राजाओं के खज़ानों को लूटें "। वैदिक सिद्धान्त यह है कि राजा लोग, प्रजा से प्राप्त धन को, अपना न समझें। अपितु प्रजा का ही समझें। अतः उस धन को प्रजा की ही भलाई में लगाएं, न कि अपने भोगविलास में। परन्तु जो राजा इस से उलटा चलता अर्थात् प्रजा से प्राप्त धन को प्रजा की भलाई में नहीं लगाता अपितु उसे अपने भोगविलास की सामग्री समझने लगता है, उसे दण्ड अवश्य मिलना चाहिये। ऐसी अवस्था में वैदिक प्रजा को पूर्ण अधिकार है कि वह अपनी सेनाओं द्वारा राजा पर आक्रमण करे, और उस के खज़ाने को लूट ले।

यहां प्रश्न हो सकता है कि इस अमति और क्षुधा की निवृत्ति के प्रकरण में, इस राष्ट्रीय सिद्धान्त का वर्णन क्यों किया ?। इस का उत्तर यह है कि आर्थिक और राष्ट्रीय समस्याएं सर्वथा ही भिन्न नहीं हैं। आर्थिक समस्याएं कई वार और प्रायः ही, राष्ट्रीय विप्लवों को उत्पन्न कर देती हैं। "जिस राष्ट्र में, दुग्ध, घृत आदि पौष्टिक और बुद्धिवर्धक पदार्थ, तथा क्षुधा के निवारक अन्न दुर्लभ हो जायँ, वहां, राष्ट्र विप्लव कर राजकोष खज़ानों को लूट लेना चाहिये" इस सिद्धान्त को दर्शाने के लिये ही, ऊपर के मन्त्र में, आर्थिक और राष्ट्रीय निर्देशों का वर्णन साथ २ आया है।

(ख) गोभिष्टरेमामतिं दुरेवां यवेन क्षुधं पुरुहूत विश्वाम् ।
वयं राजभिः प्रथमा धनान्यस्माकेन वृजनेना जयेम ॥
अथर्व० २० । १७ । १० ॥

अर्थः—हे पुरुहूत प्रभो ! हम दुर्व्यवहार की उत्पादक अमति (कुमति तथा बुद्धि की न्यूनता) को गौओं के दूध आदि के सेवन से दूर करें। हम जौ आदि अन्नों के द्वारा सब प्रकार की क्षुधा को दूर करें। तथा हम अपने बल द्वारा राजाओं के ख़ज़ानों को जीतें या लूटें ।

इस मन्त्र का भाव भी, लगभग, पूर्व मन्त्र के भाव के सदृश ही है । मुख्य विशेषता केवल यही है कि इस मन्त्र में, सब प्रकार की क्षुधा की निवृत्ति के लिये जौ आदि अन्नों का विधान है । वह क्षुधा चाहे पेट की हो, या रसना इन्द्रिय की हो अर्थात् आस्वाद और लालच ।

(ग) प्राणापानौ व्रीहियवावनड्वान् प्राण उच्यते ।
यवे ह प्राण आहितोऽपानो व्रीहिरुच्यते ॥
अथर्व० ११ । ४ । १३ ॥

अर्थः—वास्तव में, धान और जौ प्राण और अपानरूप (जीवनरूप अर्थात् जीवन के प्रधान साधन) हैं; बैल भी प्राणरूप है (चूँकि बैल के कारण ही कृषि तथा गौओं की वृद्धि होती है, और कृषि तथा गौएं प्राण को अन्न देती हैं); जौ में प्राण तथा धान में अपान स्थित है ।

इस मन्त्र में कृष्यन्न तथा गव्यान्न के ही सेवन की ओर निर्देश किया है।

(घ) लाजीञ्छाचीन् यव्ये गव्ये एतदन्नमत्त देवाः।
एतदन्नमद्धि प्रजापते ॥ यजु० २३।८॥

अर्थः—हे देवो ! तुम लाजाओं, सत्तुओं, जौ के बने पदार्थों तथा गौ से उत्पन्न दूध आदि पदार्थों को खाओ। हे प्रजापते ! अर्थात् सन्तान के रक्षक गृहस्थी सज्जन ! तू भी इन्हीं अन्नों का सेवन कर।

इस मन्त्र में, देवों (अर्थात् जो अपने को सात्विक बनाना चाहें, या अपने में दिव्य गुण लाना चाहें) और गृहस्थियों को स्पष्ट आज्ञा है कि वे, कृषि से पैदा हुए अन्न तथा गौ से पैदा हुए दूध आदि का ही सेवन करें।

४ प्रार्थनाओं में मांस की कहीं प्रार्थना नहीं

"भोज्य पदार्थों की वैदिक प्रार्थनाओं अथवा सूचि में, मांस का परिगणन नहीं किया"—इस कथन की प्रामाणिकता के लिये हमें वेदों के वे स्थल पढ़ने चाहियें जहां कि भोज्य पदार्थों की प्रार्थनाएं की गई हैं, या अकस्मात् जहां कहीं भोज्य पदार्थों के परिगणन का प्रसङ्ग आ गया है। उन स्थलों के पठन से यह परिणाम अवश्य निकलेगा कि इन प्रार्थनाओं, या प्रसङ्गोपात्त सूचियों में मांस का परिगणन नहीं है।

यदि वैदिक ऋषि मांसलोलुप होते तो, इन प्रार्थनाओं या सूचियों में, मांस का परिगणन भी अवश्य होता। इस निश्चय के लिये, पाठक, यजुर्वेद के १८ वें अध्याय तथा वेदों के अन्य ऐसे स्थलों को देखें। इस तेरहवें प्रकरण में भी, प्रसङ्गवश, जो मन्त्र मैंने उपस्थित किये हैं, उनमें भी कहीं २ भोज्य पदार्थ गिनाये गये हैं, परन्तु मांस का परिगणन इनम भी नहीं।

५ पशुओं की प्रार्थना मांस के लिये नहीं

"वैदिक प्रार्थनाओं में यद्यपि गौ आदि पशुओं की प्राप्ति के लिये प्रार्थनाएं हैं, तथापि उनकी प्राप्ति (भोजन के सम्बन्ध में) उनके दूध आदि के लिये है, न कि उनके मांस के लिये"— इस कथन की प्रामाणिकता में निम्नलिखित मन्त्र पर अवश्य विचार करना चाहिये। यथा—

पुष्टिं पशूनां परिजग्रभाहं चतुष्पदां द्विपदां यच्च धान्यम्।
पयः पशूनां रसमोषधीनां बृहस्पतिः सविता मे नियच्छात्॥
अथर्व० १९। ३१। ५॥

अर्थः—मैंने दोपाये और चौपाये पशुओं तथा धान्य को खूब एकत्र किया है। आज्ञाकारी महान् प्रभु ने, पशुओं का तो दूध और ओषधियों का सारभूत उत्तम अन्न मेरे (भोजन के लिये) नियत किया है।

इस मन्त्र में स्पष्ट कहा है कि "आज्ञाकारी महान् प्रभु ने

पशुओं का दूध ही, मेरे लिये, नियत किया है (मांस नहीं)"। अतः वैदिक प्रार्थनाओं में, जहां कहीं भी, गौ आदि दूध देने वाले पशुओं का वर्णन है, वहां वह वर्णन, उनके दूध के लिये ही जानना चाहिये, मांस के लिये नहीं। इसी प्रकार भेड़ का वर्णन उसकी ऊन के लिये भी उपपन्न हो सकता है। पुँल्लिङ्ग पशुओं की प्रार्थना पशुसन्तति के बढ़ाने के लिये भी हो सकती है। इसी प्रकार सर्वत्र, यथाशक्य, उपपादन करना चाहिये।

मांस शब्द का रहस्यार्थ

"वैदिक रहस्यवाद में, मांस शब्द, पशु-मांस से भिन्न अन्य अर्थ में भी प्रयुक्त है"—इस कथन की पुष्टि के लिये, निम्नलिखित निर्देशों पर अवश्य विचार करना चाहिये। यथा—

(क) इस पुस्तक के पूर्व के प्रकरणों में, वैदिक तथा अन्य प्रमाणों के आधार पर सिद्ध किया गया है कि, यज्ञ में या यज्ञ से अन्यत्र व्यवहार कार्य में भी, निरपराधी पशु की हत्या नहीं करनी चाहिये। वेद में तो यह भी लिखा है कि पशु, परमात्मा के प्रिय प्राणरूप हैं। साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिये कि वेद में मांस के खाने वाले को राक्षस नाम से पुकारा है। अतः वह वेद जो कि पशुओं पर परम कृपालु है, और जो मांसभक्षक को राक्षस कहता है, पशुओं के मांस के भक्षण की आज्ञा देगा यह मानना तर्कसिद्ध

प्रतीत नहीं होता । तो भी वेदों में कतिपय ऐसे स्थल अवश्य मिलते हैं, जहां मांस के भक्षण या उसके यज्ञ में डालने का आभास अवश्य प्रतीत होता है । यथा—

अपूपवान्मांसवाँश्चरुरेह सीदतु ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ।
ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ अथर्व० ॥ १८ । ४ । २० ॥
यं ते मन्थं यमोदनं यन्मांसं निपृणामि ते ।
ते ते सन्तु स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतश्चुतः ॥ अथर्व० १८ । ४ । ४२ ॥
स य एवं विद्वान्मांसमुपसिच्योपाहराति ॥
यावद् द्वादशाहेनेष्ट्वा सुसमृद्धेनावरुन्धे तावदेतेनावरुन्धे ॥
अथर्व० कां० ९, सू० ६, पर्याय ४, मं० ७, ८ ॥

इन और ऐसे ही अन्य मन्त्रों में मांस के वर्णन का समाधान क्या है ? ।

आस्तिक लोग, जो कि समग्र वेद को सर्वज्ञ परमात्मा की वाणी मानते हैं, वेदों में इस प्रकार के परस्पर विरोध के प्रश्न को एकदम उपेक्षित नहीं कर सकते । इसका कोई न कोई समाधान उन्हें सोचना ही पड़ेगा । जब कि वैशेषिक दर्शनकार जैसे तत्त्ववेत्ता और वैज्ञानिक भी वेदों के सम्बन्ध में लिखते हैं कि "बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे" अर्थात् वैदिक वाक्यरचना बुद्धिपूर्वक है, तब हमारे लिये और भी आवश्यक हो जाता है कि हम भासमान इस परस्पर-विरोध का कोई समाधान ढूंढें ।

परन्तु प्रश्न यह है कि उपस्थित मांस की समस्या को हल कैसे किया जाय ? । इस का हल, सम्भवतः, इस कल्पना में मिल जाय कि "जब वेदों के विधिवाक्यों में पशु-हिंसा तथा मांसभक्षण के स्पष्ट निषेध मिलते हैं, तब वेदों के ऐसे स्थलों में, जिन में कि मांसभक्षण के आधार की यत्किंचित् सम्भावना प्रतीत होती है, इस के जानने की कोशिश की जाय कि, सम्भवतः, वेदों के रहस्यवाद में, पशुमांस से अतिरिक्त, मांसशब्द का कोई अन्य अप्रसिद्ध अर्थ भी हो" ।

(ख) बृहदारण्यक उपनिषद् अ० ३, ब्रा० ६, कण्डि० २८ में पुरुष और वृक्ष में पूर्ण समता दर्शाई है । यथा—

यथा वृक्षो वनस्पतिस्तथैव पुरुषोऽमृषा ।
तस्य लोमानि पर्णानि त्वगस्योत्पाटिका बहिः ॥
त्वच एवास्य रुधिरं प्रस्यन्दि त्वच उत्पटः ।
तस्मात्तदातृण्णात्प्रैति रसो वृक्षादिवाहतात् ॥
मांसान्यस्य शकराणि किनाटं स्नाव तत्स्थिरम् ।
अस्थीन्यन्तरतो दारूणि मज्जा मज्जोपमा कृता ॥

अर्थः—जैसे बड़ा वृक्ष होता है पुरुष भी वैसा ही है, यह सर्वथा सत्य है । वृक्ष के पत्ते ही रोम हैं, बाहर की छाल ही त्वचा है । आहत होने पर मनुष्य की त्वचा से रुधिर निकलता है, और वृक्ष की त्वचा से गोंद का रस । वृक्ष के शकर (गूदा ?) मांस रूप हैं, सूक्ष्म २ तन्तुरूप शिराएं

स्नावा हैं, अन्दर की दारु अस्थि, तथा दारु में रहने वाला स्नेह पदार्थ मज्जा है।

इस प्रकार, इस वर्णन में स्पष्ट दर्शाया है कि रोम, त्वचा, रुधिर, मांस, स्नावा, अस्थि तथा मज्जा आदि शरीरावयववाची पद, वृक्षों के भिन्न २ अवयवों के भी वाचक हैं।

अतः वेदों में, भोजन के सम्बन्ध में, मांस शब्द के केवल दर्शनमात्र से ही पशुमांस की कल्पना कर लेना न्यायानुमोदित तथा युक्तिसिद्ध प्रतीत नहीं होता।

(ग) अथर्ववेद ४। १२। १–७। के मन्त्रों में, रोहिणी ओषधि का वर्णन है। इस ओषधि के वर्णन में कहा है कि यह टूटी फूटी हड्डी को, जले हुए मांस, त्वचा तथा मज्जा को पुनः पूर्वावस्थित कर देती है। इसी वर्णनक्रम में, रोहिणी के भिन्न २ अवयवों को "मज्जा, परुः, चर्म, असृक्, मांस, लोम तथा अस्थि" आदि नामों द्वारा निर्दिष्ट किया है। अतः प्रतीत होता है कि वैदिक परिभाषा में, मांस अस्थि आदि नाम, ओषधि जगत् के भिन्न २ अवयवों में भी प्रयुक्त होते हैं, केवल एकमात्र पशु या जङ्गम प्राणी जगत् में ही इनका प्रयोग सीमित नहीं। अतः भोजन के सम्बन्ध में, वेदों में, यदि मांस आदि शब्द प्रयुक्त हों, तो इन के उचित अर्थों के चुनाव में, बुद्धिमत्ता तथा व्यापक दृष्टि से काम लेना चाहिये।

रोहिणी ओषधि के सम्बन्ध में तीन मन्त्र यहां उपस्थित किये जाते हैं, जिन के पठन से उपरिलिखित वक्तव्य की सत्यता प्रतीत हो सकेगी। यथा—

सं ते मज्जा मज्ज्ञा भवतु समु ते परुषा परुः।
सं ते मांसस्य विस्रस्तं समस्थ्यपि रोहतु॥
मज्जा मज्ज्ञा सं धीयतां चर्मणा चर्म रोहतु।
असृक् ते अस्थि रोहतु मांसं मांसेन रोहतु॥
लोम लोम्ना सं कल्पया त्वचा सं कल्पया त्वचम्।
असृक् ते अस्थि रोहतु छिन्नं सं धेह्योषधे॥ ३-५॥

(ख) इसी पुस्तक के दसवें प्रकरण में, ब्राह्मण ग्रन्थों के आधार पर यह दर्शाया जा चुका है कि, भिन्न २ अवस्थाओं में, धान और जौं की पीठी के, तथा इस पीठी के भिन्न २ अवयवों के भी, मांस, अस्थि, रुधिर तथा त्वचा आदि नाम हैं। इस से भी प्रतीत होता है कि वेद में, यत्र तत्र, भोजन के सम्बन्ध में भी पठित मांस आदि शब्द, आवश्यक नहीं कि प्राणिपशु के ही भिन्न २ अवयवों के वाचक हों।

(ङ) चरकसंहिता आदि वैद्यक ग्रन्थों में, केसर को रुधिर, खजूर के गूदे को मांस, बेर की गुठली को अस्थि, तथा पके आम के गूदे रस और गुठली को, क्रम से, मांस, मज्जा तथा अस्थि के नामों से पुकारा है[1]।

(१) देखो "वेद और पशुयज्ञ" पृ० १८; लेखक पण्डित जे. पी. चौधरी, काव्यतीर्थ, डी. ए. वी. हाईस्कूल, काशी।

(च) आपटे कोष में भी, मांस शब्द के अर्थों में "फल का गूदा" अर्थ दिया है।

अतः इन कतिपय प्रमाणों से यह अवश्य सिद्ध होता है कि, वेदों में पठित मांस आदि शब्द, आवश्यक नहीं कि प्राणिपशुओं के ही अवयवों के सूचक हों। इस प्रकार, हिंसा तथा अहिंसा सम्बन्धी पूर्वोक्त परस्पर विरोध का भी परिहार हो सकता है।

७ अश्व आदि शब्दों के रहस्यार्थ

वैदिक रहस्यवाद में, जिस प्रकार मांस आदि शब्दों के, गूदा आदि अर्थ संभव हैं, इसी प्रकार अश्व आदि शब्दों के भी, पशुभिन्न अन्य अर्थ भी संभव हैं। जिनके कतिपय उदाहरण निम्नलिखित हैं। यथा—

(क) अश्व=तण्डुल के कण[1]; सूर्य[2]; अश्वपर्णी या असगन्धा औषधि, एक नक्षत्र[3] आदि।

(ख) अज या छाग=तीन वर्ष या सात वर्ष के पुराने धान[4]; राशिचक्र में की मेषराशि[5]; अजा नामक औषधि[6] आदि।

---

(१) अथर्व० कां० ११. सू० ३, पर्याय १, मं० ५।

(२) यजु० २१। १८।

(३) देखो ज्योतिष ग्रन्थ।

(४) देखो इसी पुस्तक का अजमेध प्रकरण।

(५) देखो ज्योतिष ग्रन्थ।

(६) देखो आयुर्वेद के ग्रन्थ।

(ग) धेनु=धाना[1]; पृथिवी[2], अन्तरिक्ष, द्युलोक[3], दिशाएं आदि।

(घ) वृषभ=ओदन[3]; बादल; ऋषभ ओषधि आदि।

(ङ) गौ=तण्डुल[4]; शमीवृक्ष[5]; रश्मि, चन्द्रमा, दूध, चर्म, धनुष की डोरी आदि (निरुक्त अ० २, पा० २, खं० १-३)

(च) उक्षा=सोम[6] ओषधि आदि।

यहां, परिचयमात्र के लिये कतिपय उदाहरण दिये हैं। इसी प्रकार पशुवाचक अन्य शब्दों के भी सर्वसाधारण में अप्रसिद्ध अर्थ, वैदिक तथा संस्कृत साहित्य के ग्रन्थों में मिलते हैं[7]।

(१) अथर्व० १८ । ४ । ३२ ॥

(२) अथर्व० ४ । ३९ ॥

(३) अथर्व० ११ । १ । ३५ ॥

(४) अथर्व० कां० ११, सू० ३, पर्याय १, मं० ५ ॥

(५) ऋग्वे० १० । ३१ । १० पर सायण भाष्य ।

(६) ऋग्वे० १० । २८ । ११ पर सायण भाष्य ।

(७) पाठकों के परिज्ञान के लिये, यहां पशुवाचक कतिपय अन्य शब्दों के वैद्यक प्रसिद्ध अर्थ भी दिये जाते हैं। वेदों के स्वाध्यायकाल में इन अर्थों का भी स्मरण रखना चाहिये । यथा– "अश्व=अश्वगन्धा । ऋषभ=ऋषभक कन्द । श्वान=कुकुरमुत्ता । वराह=वाराहीकन्द । काक=काकमाची । अज=अजमोद । मत्स्य=मत्स्याक्षी । लोम=जटामांसी । महिष=महिषाक्ष गुग्गुल । मेष=चकवड़, मेषपर्णी । मातुल=धतूरा । मृग=सहदेवी बूटी । पशु=मोथरा । कुमारी=घिवकुमारी । रुधिर=केशर । पेश=जटामांसी । हृद=दारचीनी । (देखो "वेद और पशुयज्ञ" पृ० १७) ॥

अतः वेदों के अध्ययन करने वाले के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि, वह, मन्त्रों के अर्थ करते समय, परस्पर विरोधी वर्णनों पर विशेष ध्यानदे, और विरोध के समाधान के लिये वेदों के रहस्यार्थों की खोज करे।



इति शम्।

वैदिक जीवन

(लेखक—प्रो० विश्वनाथ विद्यालङ्कार)

यह पुस्तक अथर्ववेद के आधार पर लिखी है। इस में स्तुतिप्रार्थनोपासना, वैयक्तिकजीवन की उच्चता, कर्मयोग, ब्रह्मचर्य्याश्रम, गृहस्थाश्रम और गृहस्थव्यवहार, पारिवारिक व्यवहार, दानभाव, अतिथियज्ञ, राष्ट्रीयजीवन, अन्तर्राष्ट्रीय और विश्वप्रेम के भाव आदि उपयोगी विषयों के मन्त्र, मन्त्रार्थ और भावार्थ दिये हैं। पृष्ठसंख्या २३१, दाम ॥।) मात्र।

समाचारपत्रों ने, इस पुस्तक की बहुत उत्तम आलोचना की है। यथा—

(१) राज्यरत्न मास्टर आत्मारामजी "विज्ञापक बड़ौदा" में लिखते हैं कि—"इस पुस्तक में जीवनसम्बन्धी उपयोगी विषयों का ऐसा सारसंग्रह है मानो कि माली ने एक उत्तम सुगन्धित फूलों की माला तय्यार करदी है। प्रत्येक सनातनधर्मी तथा आर्यबन्धु को यह उपयोगी पुस्तक, जिससे वेदमन्त्रों का महत्त्व और जीवन को वैदिक बनाने के पुष्कल साधन मिलते हैं, अवश्य पढ़नी चाहिये"।

(२) दैनिक "आज" काशी…"इस पुस्तक में वैदिकजीवन के विभिन्न अङ्गों का विशद निरूपण है। इसमें वेदकालीन अन्तर्राष्ट्रीय भावनाओं, विश्वप्रेमसम्बन्धी विचारों, तथा राष्ट्रीय जीवन के उपकरणों का सुन्दर संग्रह है। हर्ष की बात है कि साम्प्रदायिकता की बू वा व्यर्थ की खींचातानी नहीं"।